बीमार शहर

राजेन्द्र अवस्थी

न हमारी आंखें हैं आत्मरस
न हमारे होंठों पर शोकगीत
जितना कुछ ऊब सके ऊब लिए
हमें अब किसी भी व्यवस्था में डाल दो
जी जाएंगे…!

शेखर : एक प्रतीक

चांद की हथेलियों ने मेरी रात छीन ली है।

भीतर और बाहर सब-कुछ बेचैन है। जुहू की मुलायम रेत पर लहरों का राज्य है। तेज़ घरघराती लहरें दिग्वसन चांदनी को पीकर सारा किनारा निगल जाना चाहती हैं। अंधेरी रात होती तो यही किनारा इस समय एक अजीब खामोशी से भरा होता। समन्दर मज़ार पर पड़ी हुई चादर की तरह बेजान और स्थिर होता! तब वहां खड़े होने का भी मन न होता।

हम इसी बेचैन किनारे पर खड़े हैं। थोड़ी देर पहले तक यहां बहुत भीड़ थी। पूर्णिमा की चांदनी में हर कोई डूब जाना चाहता था, लेकिन व्यवस्था की अपनी पुकार होती है, वे सारे स्त्री-पुरुष जो यहां चहलकदमी कर रहे थे, व्यवस्था के शिकार हो गए। इस समय अपने-अपने घोंसलों में बंद वे ज़िंदगी को काटकर छोटा कर रहे होंगे।

मेरे साथ शोभना है। मेरी तरह उसे भी किसी व्यवस्था का भय नहीं है। हम एक-दूसरे के पास, बिलकुल एक-दूसरे से लगे हुए खड़े हैं। हमारे पीछे नारियल के झाड़ों पर एक साथ कई चांद आकर अटक गए हैं। सामने के अनंत जल-प्रवाह में एक तरह की सफेदी उफन रही है।

"यही जीवन है"—मैं कहता हूं—"शोभना, हमारे साथ एक अजीब विडम्बना है। हम वहां रहकर भी वहां नहीं रहते। हमने कभी वर्तमान में जीना नहीं सीखा। हम या तो मरे हुए व्यतीत में अपना आश्रय खोजते हैं अथवा अजन्मे भविष्य का सपना देखते हैं।"

शोभना एक ठहाका लगाकर हंस पड़ती है—"हम क्यों कहते हो! हम का जो अर्थ इस समय है, उसपर तो यह लागू नहीं होता। जो ऐसा करते हैं, वे जानें।"

शोभना की बात सच है। दूसरों के बारे में अनायास चिंतित होनेवाली

आदत सहज नहीं छूटती।

"मैं जानती हूं,"—वह कहती है—"तुम भीतर से अशांत हो! तो चलो, हम भी कमरे में चलें।"

मैं शोभना को अपने और पास खींच लेता हूं। उसकी शरारत को समझता हूं। मैं उसकी ओर देखता हूं। उस खुली हुई सफेदी में उसका चेहरा हलकी रोशनी से चमकता-सा लगता है। आंखें कभी मुझे घूरती हैं, कभी···। उसके खुले हुए पैरों को छूते लम्बे बाल सारे शब्दों को पी गए हैं।

"कल से घर नहीं गई।"—उसने सहज ढंग से बताया।

—"तो कहां थीं?"

—"परेल में अपनी फ्रेंड के यहां रह गई थी। आज की रात तुम्हारे साथ बितानी थी न! सोचा, बहाना ऐसा किया जाए तो चल जाए। मैंने घर में कह दिया, हम लोग खंडाला जा रहे हैं।"

—"तो कल ही क्यों नहीं आ गई! हम खंडाला चले चलते।"

—"पत्थरों और पहाड़ियों में ज़िंदगी करवटें नहीं लेती, शेखर, तुमने ही तो कहा था। फिर मैंने सोचा, रोज़-रोज़ घर में बहाना बनाने की अपेक्षा एक बार बहाना बनाकर कई रोज़ का सुख लूटना ज़्यादा अच्छा है।"

हम दोनों उस लम्बे किनारे पर चहलकदमी करने लगे थे। शोभना दोनों हाथों से अपने बाल समेटते हुए कह रही थी—"जीना मैंने तुमसे ही सीखा है, शेखर; वरना ज़िंदगी कुछ ऐसी हो गई थी कि सब-कुछ बंधा हुआ बोर लगने लगा था। सोचने लगी थी, मुझे भी और लड़कियों की तरह कोई स्थिर आदमी ढूंढ़ लेना चाहिए और विवाह कर लेना चाहिए। मैं जानती हूं, इसके बाद सब-कुछ ऐसा हो जाता, जैसे चारपाई में पड़े एक बीमार आदमी का होता है। उसके पास सांसों के सिवाय और क्या शेष रहता है।···नहीं, शेखर, तुमने ही मुझे जीना सिखाया है।"

शोभना आज दार्शनिक हो गई है। यहां और थोड़ी देर रही तो शायद सारा दर्शन उगलने लगेगी। बेहतर होगा, हम किसी कमरे में बंद हो जाएं। बिना कुछ कहे मैं उसकी हथेली अपनी हथेलियों में ले लेता हूं और धीरे-धीरे तारकोल की सड़क पर आ जाता हूं। आसपास सब भीगा हुआ शांत है। एक कुत्ता अकेला रेत पर निस्तेज-सा पड़ा है। सड़क के दूसरे किनारे होटल के पास

दो सिपाही बैठे ऊंघ रहे हैं। होटल बंद हो गया है, केवल बाहर रखी गंदी बेंचें जाग रही हैं। आसपास के बड़े होटलों में से उजाला झांक रहा है! लेकिन शायद ही कोई उन रोशनदानों से इस समन्दर को देख रहा हो। आम आदमी अपने भीतर रहकर जीता है। वह खिड़की और दरवाज़े बंदकर अपने को कुछ लोगों में समेट लेना चाहता है। जब वह कभी जंगलों में रहकर निर्वसन ज़िंदगी बिताता था, तब और बात रही होगी। लेकिन तब के और आज के आदमी में बहुत बड़ा अंतर है। आज का आदमी सब-कुछ होते हुए भी खोखला है। रोशनदानों से आ रही रोशनी मुझे ऐसी ही खोखली लगती है।

शोभना चलते-चलते अपना हाथ छुड़ा लेती है। फिर मेरी कमर में वह अपना एक हाथ डाल देती है। शायद सिपाहियों को देखकर उसने सहसा ऐसा किया है। वैसे वह भी जानती है कि बम्बई में यह भय व्यर्थ है। दूसरे शहरों में और इस शहर में यही तो अंतर है। यहां आदमी सबके बीच रहकर भी सबसे कटा होता है। उसकी अपनी निजी सत्ता है। एक व्यक्ति का मूल्य पहचानना कठिन होता है, व्यक्तियों के मूल्यों की पहचान आसान है। यहां कोई किसीसे जुड़ा हुआ नहीं है। किसे पता है, कल शोभना कहां थी। जो कुछ वह कह रही है, उसे सही मान ही लेना चाहिए, यह तो उसने भी नहीं कहा।···और मैं, मैं क्या उससे अलग हूं! इसलिए आगे-पीछे को काटकर एक संधिरेखा में रख देना ही बुद्धिमानी है। अकेला आदमी ही तो सब-कुछ होता है। दुनिया में जो कुछ विकास हुआ है, एक-एक अकेले आदमी की मानसिक सृष्टि है। भीड़ ने कभी व्यवस्था पैदा नहीं की।

अब तक हम 'वूची टैरेस' पहुंच गए हैं। मैं चाबी का छल्ला शोभना को देता हूं। वह शरारत से मेरी ओर देखकर चाबी लेती है और ताला खोल देती है।

कमरे में बिजली पहले से जल रही थी। भीतर जाते हुए घड़ी को देखा, ढाई बजा था। सहसा शोभना को जम्हाई आ जाती है, जैसे घड़ी देखकर उसके भीतर से किसी ने एक आवाज़ लगा दी है। भीतर और बाहर यही अंतर होता है। भीतर एक घेरे में पहुंचते ही आदमी को सहसा अपने बौनेपन का अनुभव होने लगता है। वह कितना सीमित और घिरा हुआ है। बाहर की विराट दुनिया उसे अनंत क्षितिज छूने के लिए खुला छोड़ जाती है। विकास की गति

खुले आसमान में है। लेकिन एक-दो क्षणों को पहचानना हो तो अपने में बंद होना बेहतर होता है।

अचानक शोभना पलंग पर सीधे पड़ जाती है। मेरी ओर देखकर एक चुटकी बजाते हुए कहती है—"स्प्रिंग घुमाकर घड़ी का डायल दीवार की ओर कर दो ओर बत्ती बुझा दो!"

उसके स्वर में आदेश है। बिना कुछ सोचे मैं दोनों काम कर देता हूं और...।

मैं—यानी शेखर समीर!

भीतर से यायावर और बेचैन, भटकता हुआ! बाहर से जमा हुआ प्रतिष्ठित आदमी। मैं इस शहर का एक अनजान आदमी नहीं हूं। मुझे एक कवि और लेखक के रूप में जाना जाता है और यदि आदमी की पहचान अपने दायरे में होती है तो मैं कह सकता हूं कि मुझे यहां का हर आदमी जानता है। मेरी ज़िंदगी के कई क्षण हैं—कुछ वे है जो मेरे एक तरह के मित्र जानते हैं, और दूसरे वे जिन्हें मेरे दूसरे मित्र जानते हैं। इनके बाद वे क्षण भी हैं जो मेरे अपने हैं और जिन्हें मेरे सिवाय और कोई नहीं जानता। सब-कुछ एक क्षण में बंधा है, इसलिए हर क्षण ज़िंदगी की कीमत है, परन्तु इन क्षणों की पहचान के लिए कितने चेहरे नहीं ओढ़ने पढ़ते! नकाबपोश बनकर रहना शायद हमारी नियति है।

मैं 'बूची टैरेस' में रहता हूं। पर इस टैरेस का शायद ही कोई आदमी यह जानता हो कि मैं इतना बड़ा आदमी हूं। बडे-बड़े नेता मुझसे गले मिलते हैं। बड़ी-बड़ी सभाओं का मैं अध्यक्ष बना हूं। मैंने घण्टों भाषण दिया है, नर-नारी के सम्बन्धों पर। वेद काल की उस नारी पर, जो यमी है, अम्भृण ऋषि की पुत्री वाक् है, कक्षिवान ऋषि की पुत्री घोषा है, देवकन्या उर्वशी है। मैं शची को जानता हूं। मैं बृहस्पति की पत्नी जुहू से परिचित हूं। ये सब देवी हैं। पूज्या हैं। इनके बारे में मैंने कितनी बार लोगों को बताया है। सबने मेरी बात गौर से सुनी है। सबने मेरी सराहना की है। लोग इसीसे मुझे जानने लगे हैं। पर मैं परिचय से दूर भागना चाहता हूं। इस कोलाहल-भरी दुनिया से जितना कम सम्पर्क रहे, उतना अच्छा है। इसीलिए मैं जुहू में रहता हूं।

पुरानी बात है। बहुत पुरानी नहीं; पर नई भी नहीं है। 'धर्म-मन्दिर' में मेरा भाषण था। सैकड़ों लोग मुझे सुन रहे थे। मैं काम और भोग की बात कर रहा था। मैंने कहा था—"जिस दिन नर-नारी ने अपने पारस्परिक सम्बन्धों में सहज निसर्ग वृत्ति को छोड़कर भाई-बहन के नये धरातल को स्वीकारा होगा, वह दिन निश्चित ही संस्कृति का एक प्रगति चरण माना जाएगा। यौन सम्बन्धों की दिशा में यह एक नया प्रयोग था।" एक सज्जन खड़े हो गए। उन्हें मेरी बात नहीं जंची थी। बोले—"तुम्हारे पास क्या सबूत है?"

मैंने उन्हें देखा। जिज्ञासा बुरी नहीं है, परन्तु उनके पूछने का तरीका अजीब था। मैं जानता हूं, अनेक श्रोताओं को वह बुरा लगा होगा, पर मैं हंसता रहा। मैंने कहा—"मैं ऋग्वेद दशम मण्डल की बात कर रहा हूं। इसमें बताया है कि यमी भारतीय समाज-व्यवस्था और इतिहास की पहली बहन है और यम पहला भाई है, जिसके मन में यौन आचरण का अभिनव ज्ञान सूर्य की तरह उगा था। उस समय देवजाति में सहोदर सन्तानें स्वेच्छया यौन सम्बन्ध रखती थीं। एक दिन यमी ने यम से कहा—'माता के गर्भ से ही हम दोनों साथी हैं।···इसलिए आओ और इस निर्जन प्रदेश में तुम मेरे पति बनो।' यम ने इसे अनुचित माना।

"बोला—'यह अनुचित है। सहोदरा अगन्तव्या होती है। यह प्रदेश भी निर्जन नहीं है। प्रजापति के दूत सब देखते हैं।'

"यमी ने कहा—'प्रजापति ने ही तो हमें गर्भ के समय दम्पति बना दिया है। हमारे इस सम्बन्ध को सब स्वीकारते हैं। तुम भी मेरी कामना करो। आओ, रथ के चक्कों की तरह हम प्रवृत्त हों।'

"यम ने उत्तर दिया—'नहीं। यह सम्बन्ध हम मानवों के लिए नहीं। तुम्हें भ्राता के अतिरिक्त अन्य पुरुष को ही ग्रहण करना चाहिए।'

"यमी ने उसे ललकारा। बोली—'दुर्बल मत बनो!'

"यम ने उसका प्रस्ताव नहीं स्वीकारा।

"यमी हताश वहां से चली गई। यम नहीं डिगा और इस प्रसंग की याद के लिए रक्षा-बंधन का दिन छोड़ गया।'

मैंने उन सज्जन की ओर देखा। वे नीचे सिर किए बैठे थे। मैंने कहा—"कहिए महाशय!"

वे कुछ न बोले। लोगों ने तालियां पीट दीं।

मैंने अपना भाषण रोका नहीं। मैं काम की सहजवृत्ति बता रहा था। मैंने श्रोताओं को घोषा की बात बताई—"कक्षिवान ऋषि की पुत्री घोषा। घोषा, जो बचपन में ही कोढ़ी हो गई थी। बाद में चिकित्सक अश्विनीकुमारों की कृपा से वह रोगमुक्त हुई। वह इस रोग से सिर्फ इसलिए मुक्त होना चाहती थी, ताकि कोई पुरुष उसे भोग्या के रूप में स्वीकारे। वह चीखती है, चिल्लाती है—'हे अश्विनी, मैं घोषा हूं! मैं तुम दोनों को बुलाती हूं। मुझे मार्ग दिखाओ! मेरी दुर्गति दूर करो! तुमने च्यवन ऋषि को यौवन दिया था। अत्रि ऋषि को तुमने अग्निकुण्ड से निकाला था। लंगड़ी विश्पला को लोहे के चरण दिए। वध्रिमती को प्रसव-वेदना से मुक्ति दी। तुमने विमद के साथ पुरुमित्र की कन्या का विवाह कराया। फिर तुम मेरा कष्ट क्यों दूर नहीं करते? नर और नारी का सुख जानने का मुझे अवसर क्यों नहीं देते? मैं प्रेम करनेवाले और बलिष्ठ स्वामी के घर जाना चाहती हूं।'—अश्विनीकुमारों ने उसपर कृपा की, उसका कोढ़ मिटाया और वह आगे चलकर पुत्र-पौत्रों से समृद्ध हुई।"

इस तरह की घटनाओं की मेरे पास कमी नहीं थी। मैंने काम को शरीर का सहज धर्म बताया। और मैं जानता हूं, लोगों ने मेरी प्रशंसा भी की और मुझे गालियां भी दीं। मैं दोनों का अभ्यासी हूं, पर उस दिन एक अजीब-सी घटना हुई। जब मैं भाषण समाप्त कर मंच से उतरा तो एक युवती मेरे पास आई। उसने मेरा आटोग्राफ मांगा। वह झिझक रही थी। मैंने आटोग्राफ दे दिया। उसके बाद ही उसने आग्रह किया, वह मुझसे मिलना चाहती है और कुछ जानना चाहती है। मैंने स्वीकृति दे दी।

दूसरे दिन वह मेरे कार्यालय में आई। मैं तब 'नर-नारी' का सम्पादक था। तारदेव में इस पत्र का कार्यालय था। हिन्दी में सम्भवतः यह नर, नारी और काम तथा भोग पर पहला पत्र था। दो वर्षों से वह निकल रहा था, लेकिन दो वर्षों में ही उसने सनसनी फैला दी थी। कुछ लोगों ने मामले भी दायर किए थे। उनके दुर्भाग्य से एक भी मामला सफल नहीं हो सका। सत्य को कौन झुठला सका है, पर मेरी भी कमर टूट गई थी। हिन्दी में खरीदकर पढ़नेवाले कम हैं। भीख मांगने की वृत्ति उनमें ज्यादा है और ऐसे लोग भी हैं जो सामने एक बात का विरोध करते हैं और रात को उसीको भोजन की तरह चबाते हैं। फल यह

हुआ कि कर्ज़ ज़्यादा बढ़ गया। मैंने ऐसी सेवा से हाथ जोड़े और वह पत्र बन्द हो गया। कुल तीन वर्ष वह पत्र चला।

मैंने उस युवती को कुरसी पर बैठाया और पूछा कि वह क्या चाहती है। उसने मेरे भाषण की भूरि-भूरि प्रशंसा की। मैंने उसे साधुवाद दिया। वह उस दिन चली गई। मुझे लगा, वह कुछ और कहना चाहती थी, पर कह नहीं पाई। सम्भवतः मेरे व्यक्तित्व से वह भय खा रही थी। मैंने उसे उसी समय आंख भरकर देखा था, वह मुझे बुद्धिमती दिखी थी। वह जिज्ञासु है और उसमें ज्ञान की पिपासा है, इसलिए मेरा भी उसके प्रति आकर्षण बढ़ गया। मैं कार्यालय में बैठा सोचता रहा, मैंने उसका पता क्यों न पूछ लिया। फिर भी मन में धीरज था। विश्वास था कि वह फिर आएगी, और सचमुच दूसरे दिन वह आई। तब भी वह पहले की तरह ही झिझकी। न जाने वह क्या सोच रही थी। खड़े होकर मैंने उससे बैठने का आग्रह किया। अपने नेत्रों से उसने आभार प्रकट किया। मैंने ही बात शुरू की। काम और भोग पर उसके विचार पूछे। वह हिचक रही थी। मैंने कहा—"हिचको मत! खुलकर कहो! मुझे बड़ा गम्भीर व्यक्ति मत समझो। मुझमें भी प्रेम के प्रति आकर्षण है।"

मैं कहते-कहते यह भी कह गया कि मैं उसके प्रति आकर्षित भी हूं। मैंने उसके चेहरे को देखा। उसपर नारी की सहज लज्जा झलकने लगी थी।

तब से वह कई बार आई। एक बार उसने यह कामना भी प्रकट की कि यदि उसे भी यहां छोटा-मोटा काम मिल जाए तो अच्छा है। मैंने उसे काम दे दिया। अभी तक सारा काम मुझे ही करना पड़ता था। मैंने उसे अपने सहायक के रूप में नियुक्त कर लिया। वेतन वह लेना नहीं चाहती थी, परन्तु मैं किसीसे बेगार कराने का पक्षपाती नहीं हूं। इसलिए उसे वेतन स्वीकार करना पड़ा। वेतन अधिक नहीं था। वह केवल प्रतीक रूप में था, ताकि कम से कम मुझे संतोष मिले कि मैं बेगार नहीं लेता।

अब हम दोनों निकट थे। हमारी दूरी धीरे-धीरे मिटती जा रही थी। कार्यालय में हममें औपचारिक सम्बन्ध थे। बाहर हम मित्र थे, एक-दूसरे के गहरे आत्मीय। 'नर-नारी' के लिए हमारे कार्यालय में प्रतिदिन अनेक लेख आते। कार्यालय के बाहर प्रायः हम उनकी खुलकर चर्चा करते थे। मैंने देखा, वह कुछ जानने लगी थी। वेदों की कई बातें स्वयं उसने मुझे बताईं। उर्वशी और

पुरुरवा की कहानी उसने ही मुझे सुनाई थी। यह कहानी मैं जानता था इसलिए जब उसने सुनाना शुरू किया, तो मुझे उसमें रुचि नहीं हुई। पर उसका आग्रह था कि मैं सुनूं, और मैं किसीके प्रेमपूर्ण आग्रह को ठुकराना अशिष्ट मानता हूं। मैंने उसकी कहानी ध्यान से सुनी। वह बोली—'उर्वशी ने पुरुरवा से कहा था, मेरी अनुपस्थिति से तुम व्याकुल मत हो। मृत्यु की कामना मत करो। स्त्रियों की मित्रता स्थायी नहीं होती। उनका और भेड़ियों का हृदय समान होता है।… किन्तु मैं उसे नही मानती। उर्वशी ने यह कहकर नारी जाति के साथ घातक पाप किया है। हर नारी एक-सी नहीं होती। न जाने उर्वशी सबको एक जैसा क्यों समझती थी?"

मुझे यह कहानी सुनाने का रहस्य पता लगा। मैंने कहा—"चिंता न करो। मैं उर्वशी की बात स्वीकारने वाला नहीं हूं।"

मैंने देखा, उसका मुखमण्डल आरक्त हो उठा था। उसके होंठ तिरछे होकर फैल गए थे। उसके नेत्रों में सौन्दर्य की एक अनुपम आभा प्रकट हो गई थी। वह अपनी सफेद साड़ी का छोर सिर पर डालने लगी थी। नारी की इस प्रवृत्ति को मैं पहचानता हूं। जब वह इस तरह अपने को व्यवस्थित करने लगे और अपनी साड़ी का छोर सिर पर डालने लगे, तो समझिए कि वह अपने को अधिक व्यक्त करना चाहती है। यही नारी का वास्तविक रूप है। मैंने उसका हाथ पकड़ लिया। वह किसलय की तरह कांप उठी। मैंने इसका अनुभव किया, बोला—"व्यर्थ लजाती हो। मुझे तुम वह न समझो, जिससे तुमने आटोग्राफ लिया था। एक बात को समझ लो, सुखी रहोगी। हर आदमी के दो चेहरे होते हैं। बिना इसके वह जी नहीं सकता। इस समय मैं तुम्हारे सामने बैठा एक सामान्य व्यक्ति हूं—मात्र शेखर! शेखर—प्रतीक मात्र एक नाम का!"

मैंने उसकी ओर देखा था। उसके चेहरे पर और कोई नये भाव नहीं थे। लगता था, अपने रीते चेहरे में वह कुछ भरती जा रही है। मैंने कहा—"अरे, मैंने तो तुम्हारा नाम पूछा ही नहीं।"

—"मुझे शोभना कहते हैं!"

—"चलिए शोभना जी, सामने के रेस्टॉरेंट में चलकर चाय पिएं!"

उस रात मैंने डायरी का एक पृष्ठ और पूरा किया:

···ज्वार के बाद खिसका हुआ समन्दर सीपियों और घोंघों के सिवाय वे महीन जेलियां भी छोड़ जाता है, जिनमें मछलियों के अण्डे होते हैं ।···ये सब महासागर के पगचिह्न हैं··· आदमी का मन भी किसी सागर से कम नहीं है। वह अपने पीछे वे सारी स्मृतियां छोड़ जाता है, जिनपर सड़कें बनती हैं, सभाओं का आयोजन होता है और शब्दों को रूप मिलता है ।···एक आदमी वह है जो तीस सौ बरस की बरगद की ज़िंदगी जीता है, दूसरा वह जो कमल के फूल की तरह केवल दिन के प्रकाश में रह पाता है, लेकिन जब बरगद का झाड़ उखड़ता है तो उसके स्थिति-चिह्न ढूंढ़ना भी मुश्किल होता है, जबकि कमल वहां शाश्वत सौन्दर्य छोड़कर जाता है। इसलिए जीने का सम्बन्ध आयु से नहीं, भोगे हुए क्षणों से है ।···जैसा हर दिन होता है, वैसा आज नहीं हुआ और जो आज हुआ वैसा पहले नहीं हुआ था।···एक अकेलेपन को कुछ मिला है, वह क्या है, समय ही बताएगा।

···सुबह जब मैं उठूंगा और रोज़ की तरह सूरज की गरमी मेरा आलिंगन करेगी, तब मेरे सामने भी बिखरी हुई जेलियों के बीच एक बंद सीपी होगी··· ऐसी ही कोई सीपी मोती दे जाती है।

२

शोभना : एक छाया

बम्बई—मेरा शहर ! वैसे इस तरह का दावा करना गलत है। बम्बई किसीका शहर नहीं है, यहां रहकर भी आदमी यहां का नहीं हो पाता। चारों ओर आदमियों के झुण्ड तैरते नज़र आते हैं, चाहे वह बोरीबंदर हो, चर्चगेट, स्टाक एक्सचेंज, बांदरा का कसाईघर या जूहू अथवा बैंड-स्टेंड का समुद्री किनारा। इतने आदमियों के बीच रहकर भी आदमी एकदम अकेला रहता है। कभी वह मर जाए तो शायद लावारिस घोषित कर किसी पुलिस थाने में पड़ा दिखाई देगा। इसके बावजूद मैं इसे अपना शहर कहती हूं।

शेखर का कहना सही है—हम कुछ आदमियों के बीच ही तो जीते हैं। फिर आप चाहे बड़े शहर में रहें या छोटे देहात में। मेरा जन्म ही बम्बई में हुआ है और इतने दोस्त हैं कि कभी अकेलापन महसूस नहीं किया। शान्ताक्रुज़ में मेरा घर है। मेरे तीन भाई हैं। दो पढ़ते हैं और एक डाक्टरी करता है। पिता अपने बुढ़ापे को आराम दे रहे हैं। उनके साथ जोड़ने पर मेरा पूरा नाम शोभना श्रीधर देशमुख होता है, लेकिन इतने लम्बे नाम की ज़रूरत यूनिवर्सिटी की डिग्री के सिवाय और कहीं नहीं पड़ी।

सहेलियां मुझे अक्सर मेरे नाम के कारण चिढ़ाती हैं। एक दिन एक ने पूछा था—"तुम किसकी शोभा हो ?"

उसने बात सहज कही होगी, लेकिन मुझे गुस्सा आ गया था। मैंने दांतों से जीभ काट ली थी, मुझे बता देना चाहिए कि मैं किसकी शोभा हूं। वह···! मैं तब इंटर में पढ़ती थी। एलफिन्स्टन कालेज का वह प्रोफेसर। ओफ···! दर्द से मेरा दिल टूट जाता है। गुरु मानकर उसके पास गई थी। उसने हंसते हुए मेरा स्वागत किया था और एक दिन अपनी गुरुता उसने मेरे चरणों पर चढ़ा दी थी।

वह दिन रिश्ते बदलने का था—हम मित्र बन गए थे। दिन और रात के हर पहर मेरी सांसों में वही तैरता था। उसने मिलने के लिए मेरा मन आतुर

रहता था। घर में कितने बहाने मैं करती थी। शान्ताक्रुज़ से निकलकर सीधे फ्लोरा फाउण्टेन जाती थी। चर्च गेट स्टेशन में सामने की तरफ जो घड़ी लगी है, उसीके नीचे खड़ी होकर मैं उसकी प्रतीक्षा करती थी। इसके बाद हम दोनों खूब सैर करते और फिर ग्रांड होटल चले जाते। वहां दो-ढाई घंटे बिताकर हम अपने-अपने घरों को लौट जाते।

हमारी मित्रता दिन-प्रतिदिन गाढ़ी होती गई। वह अक्सर मेरी तारीफ करता था—मेरी देह की और मेरे व्यवहार की। हमारी मित्रता इतनी बढ़ी कि एक दिन हमने पति-पत्नी बनने का संकल्प कर लिया और इस संकल्प के साथ ही मैं मातृत्व के बोझ से दबने लगी। उसने मुझे साहस बंधाया। गर्मियों में वह ब्याह कर लेगा। मैं निश्चिन्त उससे मिलती रही और अपने उदर के तन्तुओं को प्रसन्नता के साथ फैलते हुए देखती रही।

गरमी आई। मैंने उससे आग्रह किया, वह अपने वचन को पूरा करे। मैंने माताजी से यह बात बता दी थी। उनको नाराज़ रखकर भी मैं प्रसन्न थी। वे भी अब क्या कर सकती थीं। गरमियों के बाद मुझे पता लगा कि उसने अपनी नौकरी ही छोड़ दी है और वह बम्बई से चला गया है। कहां चला गया, कोई नहीं जानता। अब मेरी स्थिति विस्फोटक थी। घर-भर मेरा विरोधी था। उन्हें अपनी इज़्ज़त बचानी थी। मैं चक्कर में थी, क्या करूं? कई बार मैंने सोचा, समन्दर दूर नहीं है, पर मन तैयार नहीं हुआ। एक पाप को छिपाने के लिए, दूसरा पाप करना मैंने ठीक नहीं समझा। पाप कभी पाप से नहीं कटता। उसके लिए पुण्य ज़रूरी है। मैंने धीरज रखा और अपनी एक सहेली से सब कुछ मैं कह गई। उसकी मां नर्सिंग होम की डाक्टर थी। वहां मैं भर्ती हो गई। दो महीने बाद मैंने अपने अधूरे मातृत्व के बोझ को उतार दिया और मैं फिर कन्या रह गई—एक कुमारी कन्या।

यह एक बड़ी घटना थी। इसने मेरा जीवन ही बदल दिया। मैं कालेज में पढ़ती रही, पर कालेज-जीवन से विरक्त थी। घर से भी बाहर कम ही जाती। घर में पुस्तकों में उलझी रहती और अपने मन को भ्रमित होने से बचाने का प्रयत्न करती।

इसी बीच मेरी शेखर से भेंट हो गई। उसकी विद्वत्ता से मैं बड़ी प्रभावित हुई। वह जब मेरे अधिक निकट आया तो मैंने अपने विगत जीवन के सारे पृष्ठ

उसके सामने खोल दिए। आगत के प्रति मैंने भय व्यक्त किया। उसने कहा—"उस भय से तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिए, इसलिए कि वैसे प्रसंग को मैं कभी आने ही नहीं दूंगा।"

शेखर स्पष्टवादी है। वह जो कहता है, साफ कहता है, इसलिए कड़ुवा भी होता है, पर मैं उसे पसन्द करती हूं। इसलिए उससे प्यार करती हूं। मुझमें और उसमें भेद नहीं है। मैं गर्व से कहती हूं कि हमारे तन और मन दोनों एक हैं। हमारे जीवन-दर्शन एक-दूसरे के निकट हैं। मेरा दर्शन जहां डगमगा रहा था, शेखर ने वहां प्लास्टर लगा दिया है।

मैंने एक दिन कहा था—"शेखर, घर में मुझे अच्छा नहीं लगता। तुम भी तो अब बेकार हो। दिन-भर यहां अकेले लिखते-पढ़ते रहते हो। मैं तुम्हारे साथ आकर रहना चाहती हूं।"

उसने कहा था—"नहीं शोभना, मैं इस नगर का एक मान्य व्यक्ति हूं। रोज़ अनेक तरह के लोग मुझसे मिलने आते हैं। तुम्हें मेरे पास देखेंगे तो क्या कहेंगे?"

"क्या कहेंगे,"—मैंने कहा था—"उनके कहने में क्या है?"

"बहुत कुछ है,"—उसने कहा—"इसलिए कि हम समाज से बंधे हैं। समाज एक अजीब चीज़ है। वहां कौए भी हंस बनकर बैठते हैं। होटल में दिन-दहाड़े खानेवाले, समाज में चार चूल्हे लगाने की बात करते हैं। यहां सब सफेद चादर ओढ़कर आते हैं। कोई उस चादर को उठाकर कभी नहीं देखता। हमें इसी समाज के साथ रहना है। वैसे मैं तुम्हारा हूं। यह घर तुम्हारा है। जब चाहो, आओ-जाओ।"

मैं जानती हूं, शेखर हठीला है। बात का पक्का है, हठ करने से लाभ न होगा। जब मैं अपने पिछले प्रेम की बात सोचती हूं, तो फिर हठ करने का भी जी नहीं होता। शेखर से विवाह करने की कल्पना मैंने कभी की नहीं। करती भी कैसे?

पैसे पाने के लिए, मैं उससे प्रेम करती नहीं। सेक्स की भूख भी मुझमें कुछ ज़्यादा नहीं और यह भूख तो अस्थिर है। न आने के पहले वह खबर देती है और न मिटने के बाद तृप्ति का अनुभव करती है। इसलिए सेक्स का महत्व मेरे पास कम है। पर मैं यह जानती हूं कि उसके अपने क्षण होते हैं। उन क्षणों को मैं

पहचानती हूं। उन क्षणों को टालने का मैं यत्न करती हूं। नहीं टाल पाती तो भागती भी नहीं। मैं अब सरल जीवन की आदी हो गई हूं। सरलता में ही स्वाभाविकता है। जो सरल रूप से होता है, वही शिव है। ज़माने को मैंने देखा है। इसलिए अब अनजाने मां बनने की नौवत आ ही नहीं सकती। इसीलिए शेखर से मेरी इतनी निकटता है, उसमें इतनी एकाग्रता है। जब चाहती हूं, उससे मिलती हूं। प्रायः हर रविवार की संध्या हम दोनों के लिए होती है। वह कभी इस समय कोई दूसरा काम नहीं लेता। एक बार उसने एक बड़े नेता का आग्रह भी ठुकराया है। यह समय जैसे दूसरों के लिए अछूता है। यही मेरेलिए क्या कम गर्व की बात है! शेखर से मेरा कोई विशेष स्वार्थ नहीं है। सिर्फ एक ही स्वार्थ है। उसी स्वार्थ से हम दोनों बंधे हैं। मुझे एक मित्र चाहिए। आप कहेंगे, और कितनी लड़कियां हैं, जो मेरी मित्र हो सकती हैं। यदि आप ऐसा सोचते हैं, तो गलती करते हैं। मैं युवा हूं। मेरी सारी इन्द्रियां सजग और सचेष्ट हैं। मैं जीवन पर विश्वास करती हूं, मृत्यु पर नहीं। जीवन की जाग्रत अवस्था यौवन है। मैं न फ्रायड के विचार जानती हूं और न हैवलाक एलिस के; मैं अपने को जानती हूं। अपने शरीर को पहचानती हूं और अपनी ज्ञानेन्द्रियों के मार्ग में अवरोध नहीं पैदा करना चाहती। हमारे शरीर में अनगिनत छोटी-छोटी रक्तवाहिनी नलियां हैं। जितना तेज़ हमारे रक्त का प्रवाह होगा, हमारा यौवन उतना ही प्रस्फुटित होगा। इन रक्त-नलियों को सदा जाग्रत रखना ज़रूरी है। इसके लिए विपरीत सेक्स का सान्निध्य चाहिए। वह न मिले तो हमारा यौवन असमय ही ढल जाए।

आप मुझे गलत न समझें। मैं शरीर लुटाते फिरने की बात यहां नहीं कर रही। मैं केवल सान्निध्य प्राप्त करने की बात कर रही हूं। उसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए मैं पुरुषों से मित्रता रखती हूं। मैं एक गड्ढे में गिरी, उससे फिर उबरी। यह उबरना नहीं, एक नये रंग का चढ़ना है। लेकिन जो रंग गया है उसपर और क्या रंग चढ़ेगा! अब धोखा मैं खा नहीं सकती, यह आत्मविश्वास सदा मेरे साथ रहता है, इसलिए निर्भय होकर पुरुषों से मैं मित्रता करती हूं। मेरे ऐसे बारह पुरुष मित्र हैं।

मेरी प्रवृत्तियां अनेक हैं, इसलिए मेरे साथी भी अनेक हैं। मैं नाचती हूं, मैं बालडांस अच्छी तरह जानती हूं। मैं तैरती हूं, समुद्र में तैरना जानती हूं। मैं बिलियर्ड खेलती हूं, खूब खेलती हूं। रेसकोर्स में अपनी किस्मत भी आजमाती हूं।

इसमें मैंने बहुत गवांया है और बहुत पाया भी है। मैं पिक्चर देखने की शौकीन हूं। रोमांटिक चित्र मुझे ज़्यादा पसन्द हैं। अध्ययनशील हूं, पढ़ती हूं तो खूब पढ़ती हूं। कभी पढ़ते-पढ़ते ही सारी रात बिता देती हूं। अब तो वेदों के अध्ययन का भी मुझे चस्का लग गया है। यह अपने-आपमें एक अनन्त महासागर की तरह है। अपनी इन नानामुखी वृत्तियों की तृप्ति के लिए मैंने अलग-अलग रुचि के बारह मित्र बना रखे हैं। उनमें शेखर भी एक है। पर एक बात निश्चित है, जो शेखर है, सो शेष ग्यारह नहीं हैं। जो ग्यारह हैं, शेखर उनके आगे बारहवां नहीं है। ठीक कहा जाए तो ग्यारह मेरे चक्कर काटते हैं और मैं शेखर के चक्कर काटती हूं। मेरा-उनका रिश्ता अलग है। वह भीतर-बाहर एक है। दुराव और भेद की दीवारें वहां टूट गई हैं, अन्यत्र शायद वे बनी हैं किसी न किसी रूप में। मेरे मित्र उनके टूटने का रास्ता देखते हैं और मैं केवल उनपर हंस देती हूं। पर मैं उन्हें धोखा नहीं देती। मैंने उनसे यह मन्तव्य साफ प्रकट कर दिया है। अब यदि वे अभी भी इसी धोखे में हों कि स्त्री की 'ना' कभी 'ना' नहीं होती, तो मैं क्या कर सकती हूं ?

शेखर का फ्लैट छोटा किन्तु सुन्दर है। उसकी मालकिन मिस गोरावाला मज़ेदार औरत है। दुनिया के बड़े अनुभव उसने पाए हैं। आग में तपकर वह सोना बन गई है। उसने ज़िन्दगी का एक नया दर्शन खोज निकाला है, और मैं उससे प्रभावित हूं। शेखर भी उस दर्शन को मानता है। इसलिए वह हम दोनों को जब साथ देखती है तो बड़ी प्रसन्न होती है। उसने अपनी प्रसन्नता कई बार प्रकट भी की है, उसके उसूलों के हम कट्टर समर्थक जो ठहरे। शेखर यहां अकेला है। वह उत्तर प्रदेश का रहनेवाला है, उसी ने बताया था कि एक देहात में उसका घर है। अब वह घर से सैकड़ों मील दूर है; तब मिस गोरावाला की छाया कम काम की नहीं। शेखर ने मुझे बताया है कि गोरावाला भीतर से बड़ी दयालु है। उसने शेखर की कई बार आर्थिक मदद भी की है। इस ज़माने में कौन इस तरह मदद करता है।

शेखर के फ्लैट में, कुछ दिन हुए, एक पंछी और आ गया है। वह है—मंजरी। पिछले रविवार को मैं मंजरी से मिली थी। उसके साथ एक आदमी और था। जब वह चला गया तो मंजरी ने बताया कि ठाकुर निरंजनसिंह उसका पति नहीं है, वह उसका साथी और मित्र है और इनसे अधिक उसका रक्षक है। वह यहां

ज़्यादा दिन नहीं रहेगा। दो-चार दिनों में यहां से चला जाएगा और मंजरी अकेली रहेगी।

मंजरी अकेली रहेगी !—बम्बई में, है न अचरज की वात ! पहली बात तो यह है कि कोई उसे अकेले रहने भी देगा। फिर उसे अंगरेज़ी आती नहीं। शहरों की रीति-नीति से वह अपरिचित है। देखने में मासूम और भोली है। गोरे, खिले हुए चेहरे पर कोहरे की तरह भोलापन तैरता है। उसकी सीधी और सरल आंखें अभी तक अर्थों को खोज पाने में समर्थ नहीं हो सकीं।

मिस गोरावाला ने अपने घर के चारों तरफ कमरे निकाल रखे हैं। उन्हीं में से एक उसने मंजरी को भी दे दिया है। शेखर की खिड़की जहां खुलती है, उसीके सामने मंजरी का दरवाजा है। एक देहात में पली मंजरी इतने बड़े शहर में अकेली कैसे रहेगी, मुझे यह वात रह-रहकर परेशान कर रही थी। यहां के भेड़िये उसे दिन दहाड़े उठाकर ले जाएंगे। गांव के लोग ज़रा-सी हमदर्दी के कायल हो जाते हैं।

लेकिन शेखर उसे पढ़ा भी तो सकता है, पढ़ना कोई स्कूल या कालेज में नहीं होता। असल पढ़ाई तो इस भरी-पूरी दुनिया में होती है।···शेखर की कम्पनी में रहेगी तो थोड़े दिनों में ही सारे सलीके सीख लेगी।···

यह 'वूची टैरेस' भी अजीब है। तब सब एक-से हो जाएंगे यहां—मिस गोरा-वाला, मिस्टर शेखर, मिस कमला अय्यर और मिस मंजरी। इन सबके बीच मेरी स्थिति होगी। इन नामों में से मैंने प्रो० आचार्य का नाम जान-बूझकर छोड़ दिया है। मैं उसे बहुत नहीं जानती, लेकिन चावल की पहचान के लिए उसका एक दाना काफी है। वह 'डल' है और हमारे रास्ते पर कभी नहीं चल सकता। भूलकर भी उसने आने की कोशिश की तो···नहीं···। मेरे व्यतीत का दोस्त भी तो एक प्रोफेसर था, मैं इसे भूलकर भी नहीं आने दूंगी।

आज की शाम मेरी अपनी है, शेखर किसी मीटिंग की अध्यक्षता करने गया है और सहेलियां सिनेमा देखने चली गई हैं। सुवह से मूड अच्छा नहीं है। कभी ऐसा दिन भी आता है, जब अकारण मूड खराब हो जाता है और उसके विगड़ने का कारण नज़र नहीं आता।

मैं अपने फ्लैट से वाहर आकर उस विल्डिंग की छत पर आ गई हूं। यहां से समन्दर दिखाई देता है। इतनी दूर से लहराता हुआ पानी एक ऐसी सफेद

चादर की तरह दिखाई देता। जैसे उसके नीचे पानी से बाहर निकाली हुई मछलियां छोड़ दी गई हैं। इस तरह हिलता हुआ पानी कितना अच्छा लगता है!

सामने नारियल के झाड़ हैं और उनके ऊपर लाल होता आकाश! दिन का साथी सीढ़ियों से धीरे-धीरे नीचे उतर रहा है।

बम्बई की शामें! कितने रंग हैं इसके। किसे फुरसत है कि इस तरह छत पर खड़े होकर उतरती हुई शाम को देखे। जब वह नीचे उतरकर चौराहों पर पहुंच जाती है तो सारा शहर कई रंगों में बदल जाता है। भागते हुए आदमियों के पीछे जैसे भूत लगा होता है। शेखर ने मुझे एक अजीब से शहर की कहानी बताई थी। उस शहर में आदमी बैठते-चलते या घूमते परेशान रहता था। उसकी शांति किसी ने छीन ली है और वे उस शांति को छीननेवाले की खोज में लगे हैं। इतनी खोज के बाद भी उनके सारे प्रयत्न निष्फल और बेकार जाते हैं। उन्हें केवल इतना पता लग पाया कि इस अशांति का मूल स्रोत कोई अन-जानी आवाज़ है। यहां के लोग भी ऐसी ही किसी आवाज़ के पीछे भाग रहे हैं। किसीको ज़रा भी ठहरने का अवकाश नहीं है। इन भागते हुए लोगों के बीच कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो शाम के उतरते ही चौराहों पर स्थिर होकर ठहर जाते हैं और भागते हुए आदमियों को अचरज से देखते हैं। बम्बई की महानगरी रात के साथ उन सबका स्वागत करती है जो आवाज़ पर भागने के आदी नहीं हैं।

मैं सामने देख रही हूं—रोशनी धीरे-धीरे कहीं लुप्त होती जा रही है। लगता है कि एक बड़ा स्याहीसोख इस रोशनी को पीता जा रहा है। उतरते हुए अंधेरे में पानी की सफेद चादर गहरी काली होकर किसी मज़ार से उठाकर लाई हुई चादर में बदल जाएगी। उसके पास के रेतीले किनारों पर तब फुस-फुसाहटें अपना घर बना लेंगी।

शेखर के साथ शाम का कितना समय मैंने रेतों पर नहीं बिताया। एक-दूसरे से मिले हुए हम अपने को दूसरों से कहां अलग रख पाते रहे हैं। शेखर है ही ऐसा, एक बार उसके घेरे में आया आदमी छूट नहीं सकता। उसके पास बातों की कमी नहीं है। जब वह बातें करता है तो सबको चुप कर देता है और जब प्रेम करता है तो इतना डूब जाता है कि वह स्वयं अपनी स्थिति भूल जाता है।

शेखर एक बड़ा आदमी है और मुझे उसकी छाया ही बने रहने में मजा आता है। एक समर्थ विशाल वृक्ष की छाया का भी अपना अस्तित्व होता है। दूसरों के सामने गर्व से खड़ा होनेवाला शेखर मेरे पास आकर इतना सिमट जाता है कि वह अपने को मिटा देता है।

अब मेरे चारों तरफ अंधेरा फैल गया है। बिजली के बल्बों में बम्बई नगरी ने एक नया शृंगार ले लिया है। मिस गोरावाला शिफान की गोटे लगी साड़ी में चांद-तारे टांककर जब कभी उसे पहनती है तो उसकी उतरती उभर ठहर जाती है। शाम होते ही बम्बई की भी यही हालत होती है, और इसलिए मुझे इस शहर में और मिस गोरावाला में बहुत समानताएं दिखाई देती हैं। मैं नहीं जानती कि यहां आकर नई लड़की मंजरी का क्या रूप होगा! उसे समय ही बताएगा।

३

मंजरी : चलते-चलते

सवेरा हो रहा है। मैं मुलायम रेत पर पैर गड़ाए खड़ी हूं। मेरे सामने अनन्त महासागर है। दूर-दूर, जहां तक भी मेरी नज़र जाती है, पानी का अछोर क्षितिज ही दिखाई देता है। उसपर छोटी-बड़ी अनगिनत तरंगें उठती हैं और मेरे करीब आकर रेत में समा जाती हैं।

आज काफी सवेरे मैं जुहू के इस किनारे पर आ गई हूं। रात-भर मन आन्दोलित होता रहा। नींद का नाम नहीं। कई बार मैंने चाहा, बिस्तर छोड़कर यहां आ जाऊं। पर चादर के भीतर और बाहर दोनों तरफ अंधेरा था। गहरा अंधेरा। अंधेरे से भय लगता है। न जाने क्यों? फिर भी अंधेरे में रहने की अभ्यस्त हो गई हूं। अपने जीवन के चीन्हे हुए दस बरस अंधेरे में ही बिताए हैं। अंधेरा मेरे जीवन का साथी बन गया है, किन्तु फिर भी उससे भय खाती हूं। जैसे आदमी अपनी ही छाया से डरता है। अपने-आपसे कभी उसने भय का अनुभव नहीं किया, पर अपनी छाया को ही वह भूत समझता है। अंधेरा अब मेरा एक अंग बन चुका है। मैं कहूं, मैं स्वयं वह हूं; परन्तु उससे ही डरती हूं। अपने-आपसे डरती हूं। मैं जानती हूं, यह एक बड़ी विडम्बना है, पर इस धरती की कहानी ही यही है। यहां जानकर भी अनजान बनना पड़ता है। हम कितने काम ऐसे कर जाते हैं, जिन्हें जानते हैं कि नहीं करना चाहिए। शायद इसीलिए मैं अब नियति पर भरोसा रखने लगी हूं। यही मेरा सम्बल है। ईश्वर को मानती थी, पर आस्था की वे कड़ियां न जाने कब एकाएक टूट गई। ईश्वर के अस्तित्व की बात जो अब करते हैं, मैं उन्हें भ्रमित समझती हूं। अपने भ्रम को झुठलाने के लिए शायद वे यह कल्पना कर लेते हैं। कल्पना बुरी चीज़ नहीं है; वह जीवन और ज़िन्दगी को एक नया उत्साह दे जाती है। इसलिए ईश्वर को कल्पना की आंखों से देखना मैं गलत नहीं मानती। किन्तु उसपर आंख मूंदकर आस्था रखना पाप समझती हूं। यह मेरी अपनी

बात है, दूसरों की नहीं जानती।

तो मैं जुहू के किनारे खड़ी हूं। इसके तीन ओर धरती के टुकड़े हैं। मेरे दोनों बाजुओं में और पीछे भी ताड़ और नारियल के ऊंचे पेड़ लगे हैं। उनके नीचे सफेद चमकती रेत है, बहुत कोमल। वहां पहुंचकर लेट जाने का मन होता है। वह पैरों के तलुओं को गुदगुदाती है। वह गुदगुदी धीरे-धीरे ऊपर उठती है और पूरे शरीर में समा जाती है। मेरे सामने पानी ही पानी है। क्षितिज पर मैं रंग-विरंगी चूनर लटकती देख रही हूं। लगता है, किसी कन्हैया ने राधा को रंगों से सराबोर कर दिया है। उसकी चूनर उतारकर सामने लटका दी है। मैं काफी देर से यह सौन्दर्य देख रही हूं। इस सौन्दर्य के पीछे मेरी रंगीन ज़िन्दगी के न जाने कितने जाने-अनजाने चित्र छिपे हैं। हर रंग में मैं एक नया रंग देखती हूं, इसीलिए पलकों पर कभी-कभी लोभ छा जाता है; ये ढीठ रोकने पर भी बार-बार मचल ही जाते हैं। उनका मचलना आज मुझे अच्छा नहीं लग रहा। जीवन में ऐसी सुनहरी घड़ियां आती कब हैं! समय के पंख कब रुके हैं! और मैं देखती जा रही हूं कि वे रंग भी बदलते जा रहे हैं। उनपर केसरी चूनर हावी हो रही है। उस चूनर पर कोई तेज़ रोशनी डालने का प्रयत्न कर रहा है, इसलिए वह भी लड़खड़ा उठती है। और मेरे देखते-देखते चूनर समन्दर की न जाने किस लहर में डूब गई। वहां से एक जलता हुआ गोला ऊपर उठा, जैसे किसी ने एक भारी गेंद पानी पर से ऊपर उछाल दी है।

एक बड़ी लहर मेरे पैरों को आकर छू गई। मेरा शरीर कांप उठा। मैंने उन हठीली लहरों को देखा, वे कितनी स्वच्छंद हैं। उनमें जैसे कोई मर्यादा नहीं है। अपनी मौज में वे मस्त हैं। जब जितना चाहें आ-जा सकती हैं। कितनी दूर थीं, कितने पास आ गईं! इन लहरों से लगी यह धरती कितनी असहाय है! न वह चीख सकती है और न चिल्ला सकती है। वह मौन समर्पण कर देती है। सागर की बलिष्ठ भुजाओं में चाहते-न चाहते उसे बंधना पड़ता है और यह देखकर मेरी भुजाएं भी फड़कने लगती हैं। इस धरती में और मुझमें अन्तर ही क्या है। उतनी ही मैं निर्बल हूं, उतनी ही असहाय! मेरा अस्तित्व भी तो किसी सागर के सहारे है। वह शरण न देता तो क्या आज मैं यह उछलती गेंद-सा सूरज देख पाती?

मुलायम रेत में गड़ा एक पैर मैंने ऊपर उठाया तो आवाज़ सुनी। वह

आवाज़ निरंजनसिंह की थी। वही निरंजन जो मुझ धरती का सागर है। मैं लौटी। दौड़कर उसके पास पहुंच गई। उसने मुझे अपनी भुजाओं में कस लिया। वह मेरे लहराते कुंतल सहलाने लगा। समन्दर की हवा जैसे उसके हाथों में आकर समा गई थी। मेरे तन-मन ने उस स्पर्श में स्वर्ग के एक अलिखित सुख का अनुभव किया। वड़ी देर तक वह सहलाता रहा। मैं मौन उसके समर्पण में, अपार सुख का अनुभव करती रही।

"मंजरी !"—वह बोला।

उसकी भुजाओं से दूर होते हुए मैंने कहा—"हां, निरंजन···।"

—"सवेरे-सवेरे यहां आ गई थीं ?"

—"हां, चिड़ियों की चहक के साथ ही उठ गई थी। रात-भर नींद नहीं आई। मन भटकता रहा। चिड़ियों की पहली आवाज ने भटकते मन को सहारा दिया। तुम तव सो रहे थे। तुम्हें जगाना मैंने ठीक नहीं समझा। अपनी आधी चादर भी मैंने तुम्हें ही ओढ़ा दी। धीरे-धीरे खिसकी कि तुम जाग न जाओ। पलंग से नीचे उतरी कि स्वच्छंद थी। यहां चली आई।"

यह सब मैं एक ही सांस में कह गई। निरंजन ने मुझे देखा। घूरकर देखा। बोला—"पलंग के ऊपर क्या तुम बंधी थीं ?"

मैं उसका अर्थ समझ गई थी। मैंने उसकी आंखों की ओर निहारा, उनमें बड़ी सरलता थी। एक प्रश्न भी उनमें था। मैं क्या कह गई थी; अब समझ में आया। उसने मुझे सहारा दिया है, मुझे नये बंधन में इस तरह बांधा है कि मैं बंधकर भी अनबंधी हूं। मैंने उसकी दोनों हथेलियां पकड़ लीं—"नहीं, निरंजन यह बात नहीं है। मुझे गलत न समझो।"

—"तो फिर ?"

उसके इस प्रश्न का उत्तर मैं तुरन्त नहीं दे सकी। मैंने कहा—"चलो, हम दोनों लहरों में डूब जाएं।"

—"ठीक कहती हो, मंजरी। रात की तुम्हारी खुमारी दूर हो जाएगी।"

हम दोनों एक साथ ज़ोर से हंसे और लहरों में खो गए। लहरों के हिच-कोलों के साथ हम उतराते-डूबते घंटों नहाते रहे। अब तक जुहू का किनारा भर चुका था। कई जोड़े वहां आ गए थे। उनमें वच्चे और बूढ़े तो थे नहीं, सब जवान जोड़े थे। जोड़े इसलिए कि वे साथ नहाने आए थे। नहाने की ड्रेस पहन-

कर हाथ में हाथ डाले वे साथ-साथ नहा रहे थे, साथ झूल रहे थे। साथ ही वे समन्दर की लहरों में खोते और उतराते थे। जोड़ा तो वही है जो साथ रहे। जोड़े से जिस बात की कल्पना साधारण लोग करते हैं, वैसा मैं नहीं सोचती। वे परम्परावादी हैं। अज्ञान को आलोक मानते हैं। अपनी घिसी-पिटी मान्यताओं में जो देखते या सुनते हैं, उसीको सत्य मान लेते हैं। मैं सत्य उसे मानती हूं जो विवेक की भूमि पर खड़ा हो। अनुभव की रंगशाला में जो तत्व मैंने पाए हैं, उन्हें ही सत्य मानती हूं और इसीलिए कहती हूं कि वहां जोड़े थे—एक नहीं, अनेक। एक गहरा कोलाहल वहां छा गया था। पक्षियों के स्वरों ने जो निस्तब्धता तोड़ी थी, आदमियों ने वह जोड़ दी थी। एक टूटने न पाए और दूसरी जुड़ जाए—यही तो परम्परा है! और मैं परम्परा से घबराती हूं। इसी परम्परा ने मुझे अंधेरे का अभ्यासी बना दिया है।

उस चहल-पहल में मेरा दम घुटने लगा और हम दोनों वहां से निकल आए।

वह बम्बई है। भारत की महानगरी बम्बई। लेकिन हमें बम्बई से कुछ लेना-देना नहीं है। हम तो मुख्य बम्बई से पन्द्रह-बीस मील दूर समुद्र के किनारे ठहरे हैं। यह है जुहू का किनारा। यह अरब सागर की कृपा का कोर है। जिस दिन उसकी कृपा न रहे, यह टुकड़ा टूट जाए। जब तक उसकी कृपा है, जुहू बम्बई का सबसे रंगीन किनारा है। इसके किनारे बहुत-से लोग रोज़ मौज उड़ाने आते हैं। लेकिन शोरगुल से परे एक मौन वातावरण, चीखती-चिल्लाती लहरों के नीचे समुद्र के हृदय का मौन, जिसका प्रभाव शायद सबसे ऊपर है। इसलिए मौन के अभ्यासी कुछ लोग यहां रहने भी लगे हैं। उनके रहने के घरों की शृंखला जुहू को बम्बई नगर से जोड़ देती है। दो महीने पहले हम बम्बई आए थे और इसी जुहू के किनारे तब से ठहरे हैं। हमने यहां एक फ्लैट ले रखा हैं। दो कमरों का यह छोटा-सा फ्लैट है। नाम है—'वूची टैरेस'। हमारे आसपास रहनेवाले या तो पारसी हैं या गोवानी। हमारी टैरेस की मालिक एक बूढ़ी गोवानी महिला है। आजकल वह अकेली रहती है। उसकी तीन लड़कियां हैं, पर अब उनमें से कोई उसके पास नहीं है। उनकी भी एक कहानी है—बड़ी लम्बी कहानी। वह मैं फिर कभी बताऊंगी। इस फ्लैट में और भी लोग रह रहे हैं। उनमें से कई लोगों से हमने परिचय कर लिया है। वे सब मेरे साथ चल

रहे हैं। मेरी धारा के साथ उनकी धारा भी बह रही है, इसलिए आगे वे स्वयं सामने आएंगे।

मैं कह रही थी, मेरे फ्लैट का नाम है—'वूची टैरेस'। टैरेस अंग्रेज़ी का शब्द है। उसका अर्थ आप जानते ही हैं—निवास। मैं अंग्रेजी क्या जानूं। कुछ पढ़ा-लिखा हो तब न ? पर अब बहुत जानने लगी हूं। शायद इसीलिए जुहू के रंगीन जीवन का पूरा आनन्द उठाने में समर्थ हूं। शायद 'वूची' का अर्थ मैं स्वयं नहीं जानती थी। सोचती थी, नाम के लिए नाम रखा गया होगा। नाम में अर्थ ही क्या होता है ? पहचाने जाने के लिए वह एक साधन है, बस। वरना सेठ गरीबदास करोड़पति न होता और सोनकुमारी कोयले जैसी काली कभी न होती। इसीसे 'वूची' के बारे में मैंने कभी जानने की चिन्ता नहीं की। लेकिन एक दिन पहली बार यह पता लगा कि नाम में भी सार होता है।

मेरे फ्लैट से ही लगा एक दूसरा फ्लैट है। उतना ही बड़ा। उसमें एक युवक रहता है। ठिगना, दुबला, पतला और गोरा-सा। सफ़ेद धोती और सफेद कुर्ते में मैंने उसे उसी दिन देखा था, जिस दिन यहां आई थी। फिर रोज़ देखती हूं। कभी-कभी चीते के चमड़े जैसे कपड़े की वह बंडी पहन लेता है। मलाई जैसे सफेद कपड़ों पर यह बंडी। उसका रहस्य, एकदम भला कौन जान सकता है ? बड़ा मीठा है वह। बोलता भी साफ है। प्रेम से बोलता है। उसकी बातों में रस है, और इसीलिए सोचती थी कि ऊपर से वह स्वच्छ है, भीतर से भी यही होगा। पर अब···। मैं नहीं कहती, मैं गलत सोचती थी। अब भी वही सोचती हूं, परन्तु मन डगमगाने लगा है। मेरे प्रति वह उसी तरह निर्मल है। मुझसे उसका सम्बन्ध ही क्या है। दोनों पड़ोसी हैं, पर शायद ही कभी बातें होती हों। आते-जाते वह कभी देख लेता है। तब कभी मेरी आंखें उससे मिल जाती हैं। मैं डग-मगा उठती हूं, परन्तु तभी वह बाहर चला जाता है और मैं फिर अपनी जगह आ गिरती हूं। फिर भी चीते जैसी बंडी का रहस्य धीरे-धीरे खुलता ही गया और आज तो वह काफी खुल गया है।

जिस दिन मैं आई उस दिन सोमवार था। उसके ठीक छः दिन बाद रविवार; लगभग दो बजे थे, एक लड़की वहां आई। दरवाज़े पर ताला लगा था। तब मैं उसे जानती नहीं थी। लड़की थोड़ी देर वहीं खड़ी रही। फ्लैट के नीचे बगीचे में लाल फूल लगे थे। वह उन्हें धीरे-धीरे तोड़ती रही, अपने बालों

में लगाती रही। इस तरह एक नहीं सैंकड़ों फूल उसने अपने बालों में लगा लिए। उसका सिर ही किसी फूले झाड़-सा दिखने लगा। वह एक घण्टे खड़ी रही। मैं उसे बराबर देख रही थी। फिर मैं बाहर निकल आई और मैंने पूछा, "आप घंटे-भर से खड़ी हैं ?"

"हां !"—उसने एक विचित्र ढंग से गरदन घुमाते हुए कहा—"शेखर, का रास्ता देख रही हूं। घर में मिलने का वचन दिया था, नदारद है भला आदमी।"

मैंने पूछा—"शेखर कौन ?"

उसने अचरज से मेरी ओर देखा। बोली—"तुम नहीं जानतीं, कैसी पड़ोसिन हो ? इस फ्लैट में रहनेवाला ही तो शेखर है !" तब पहली बार मैंने उसका नाम जाना था। मैंने कहा—"अच्छा, समझ गई। अभी यहां आए मुझे आठ दिन ही तो हुए हैं। उसे देखा ज़रूर है।"

"हां।"—उसने कहा और अजीब ढंग से सिर पलट लिया।

मैंने कहा—"तब तक हमारे पास बैठो। आपत्ति तो नहीं होगी ?"

उसने यहां-वहां देखा। एक लम्बी सांस ली। बोली—"चलो !" वह मेरे साथ भीतर आ गई। तब वहां निरंजन नहीं था। बस, हम दोनों थीं। दोनों यहां-वहां की बातें करती रहीं। बम्बई की बातें ज़्यादा हुईं। मैं उसके बारे में जानना चाहती थी और वह जनम से यहीं रही है, इसलिए वह बताना चाहती थी। बातों का सिलसिला चलता रहा। तभी एक लड़की और वहां आई। वह भी बाहर खड़ी हो गई। बगीचे से उसी तरह फूल तोड़ती रही और अपने बालों में लगाती रही। वह भी आध घंटे खड़ी रही। तब हम दोनों बाहर आईं। मैंने पूछा—"कैसे खड़ी हो ?"

वह बोली—"इसका इन्तज़ार कर रही हूं। तुम्हारे पड़ोसी शेखर का। दो बजे मिलने को कहा था भले आदमी ने, तीन बज गए। चला तो नहीं गया ?"

मैं तो कुछ बोली नहीं, साथ वाली लड़की ने ही कह दिया—"अरी हां, वह तो आध घंटा पहले चला गया।"

मेरी तरफ देखकर उसने मुझसे ही प्रश्न किया—"क्यों बहन ?"

मैंने अनजाने ही सिर हिला दिया। उसने निराशा-भरी आंखें उस ताले पर डालीं और दरवाज़े के बाहर हो गई। उसके पैरों में एक शिथिलता थी, उसकी

आंखें दयनीय प्रतीत होती थीं।

मैंने कहा—"बहन, झूठ क्यों बोलती हो ?"

वह बोली—"आज आने दो उसे, देखती हूं। कितनों को बुलाता है। देवी जी, सिंगार करके आई थीं।" उसने दांत पीसे। वह दांत पीस ही रही थी कि एक लड़की टैक्सी से उतरी। उसके हाथ में एक पर्स था। चारों ओर पर्स को घुमाते और उचकते वह अन्दर आ गई। उसके आते ही एक मादक सुगन्ध वहां फैल गई। शायद वह बालों में कोई सुगन्धित तेल लगाए थी। आते ही उसकी नज़र उसी ताले पर गई और वह एकदम ठिठक गई। हम दोनों ने उसकी ओर देखा और मैं हंस पड़ी। पर मेरी सहेली की आंखें फिर चढ़ गईं। हंसते हुए मैंने पूछा—"क्यों बहन, शेखर को देखने आई हो ?"

उसने कहा—"हां। कहां गया वह ?"

मैंने अपनी साथी की ओर इशारा कर कहा—"इनसे पूछ लो।"

उसने प्रश्न-भरी मुद्रा में उसकी ओर देखा। वह मुंह बनाकर भीतर चली गई।

दूसरी लड़की मुझे देखती रही। बोली—"क्या बात है, आज कोई दुर्घटना हुआ ?"

मैंने कहा—"नहीं, उसका तो सवेरे से पता नहीं है। यह दो घंटे से इंतज़ार कर रही है। एक और चली गई। तुम तीसरी हो। कुछ बताकर भी नहीं गया।"

नई लड़की ने अपने सिर को झटका दिया। काले बालों में लटकता लाल रिबन उस झटके से कांप उठा। वह एकदम लौटी और चली गई।

चार-पांच व्यक्ति उसी सड़क से गुज़रे। उनमें एक लड़की भी थी। वह काला फुल पैंट पहने थी, और पैंट उसकी जांघों और पैरों से सटी थी। काले पैंट पर वह सफेद ब्लाउज पहने थी। उसके बाल कटे थे। और लोगों के साथ वह भी सिगरेट पी रही थी। उसके साथी सभी युवक थे। उनके हाथों में हाथ डालकर वह कभी-कभी उचटती भी थी। बूची टैरेस के सामने आकर सब एक-साथ रुक गए। सिगरेट का धुआं छोड़ते हुए उस लड़की ने आवाज़ लगाई—"शेखर !"

मैं बाहर ही थी। मेरी साथी भी बाहर आ गई। हम दोनों को देखकर लड़के

ज़ोर से हंसे। मेरी साथी भी हंस पड़ी। मुझे यह हंसी अच्छी नहीं लगी, पर इसी हंसी में मैंने बूची टैरेस का मर्म पा लिया। एक लड़के ने कहा—"अजीब टैरेस है यह। रोज़ एक नई बूची दिखाई देती है।"

लड़की ने कहा—"कोई रंगीला यहां रहता होगा।"

दूसरे लड़के ने जवाब दिया—"कई रहते हैं।"

तीसरा बोला—"हम क्या कम रंगीले हैं। हमारा ही कोई दोस्त तो यहां रहता है।"

लड़की की सिगरेट खतम हो चुकी थी। उसने नीचे फेंक दी। मुंह का अंतिम धुआं आकाश में छोड़कर उसने एक लड़के के हाथ में हाथ डाला और गरदन ऊपर उठाकर वह उचकी और बोली—"अभी नहीं आया बेचारा। चलो, जुहू पर आ ही जाएगा।"

सब उस लड़की के साथ उचकते जुहू की ओर चले गए।

मैं उन्हें बराबर देखती रही। कई तरह के आदमी मैंने देखे हैं। कई तरह की औरतें भी देखी हैं। पर आज का यह मजमा निराला था। मैंने अपनी साथी से पूछा—"बूची टैरेस के मानी क्या वही होते हैं, जो वे लोग कह रहे थे?"

वह बोली—"हां, गोवानी लोग लड़की को 'बूची' कहते हैं।"

वह सीढ़ियां उतरने लगी। उसके चेहरे में हलकी-सी उदासी उतर आई थी। स्पष्ट है, वह इस तरह आती लड़कियों को पसंद नहीं कर रही थी।

मैंने उसे रोका—"आता ही होगा तुम्हारा शेखर। थोड़ा और ठहरो।"

"नहीं! बहुत देर हो रही है।"—उसके स्वर में निराशा थी

शेखर के पास आज तीन लड़कियां आईं, पर यही अकेली तीन घंटों से बैठी है। बाकी तो चली गईं। मुझे वह अच्छी लगी। मैंने दो सीढ़ियां उतरकर उसका हाथ पकड़ लिया। बोली—"बस अब उनके आने में देर नहीं है।"

मैं यह कह भी नहीं पाई थी कि सचमुच शेखर आ गया। मैंने उसकी ओर देखा, फिर उस लड़की को देखा। शेखर को देखते ही उसके चेहरे का रंग बदल गया। उसने दौड़कर शेखर के हाथ पकड़ लिए। शेखर उसका हाथ पकड़े ऊपर आ गया। उसने ताला खोला और खोलते हुए पूछा—"कहां रहीं अब तक?"

—"तुम्हारी पड़ोसिन के पास।"

हम दोनों की आंखें अनजाने मिल गईं। शेखर ने मेरी ओर देखकर कहा—"आपको धन्यवाद देता हूं। अभी आप आई हैं, मुझे पहचानती नहीं, फिर भी इन्हें आपने शरण दी। मेरा नाम शेखर है!" वह रुक गया और प्रश्न-भरी मुद्रा में मेरी ओर देखने लगा। मैंने कहा, "जानती हूं। इन्होंने बता दिया है। मुझे मंजरी कहते हैं।"

उसने पूछा—"आपके साथ और कौन है?"

मैंने कहा—"वह निरंजनसिंह है, मेरा दोस्त!"

"दोस्त?"—उसका प्रश्न था।

"हां, दोस्त!"—मैं बिना झिझक के कह गई।

शेखर मुझसे और कुछ पूछना चाहता था, पर पूछ नहीं सका। उसने कहा—"और ये भी मेरी दोस्त हैं। इनका नाम है शोभना।"

मैंने हाथ जोड़े। बोली—"मिल तो चुकी हूं पर नाम अभी जाना है। इतनी देर हम बातें करते रहे, हमने एक-दूसरे का नाम भी नहीं पूछा।"

हम तीनों एक साथ हंस पड़े। परिचय पाकर मुझे प्रसन्नता हुई। शोभना एक अच्छी लड़की है। इतनी ही देर में वह मुझे भा गई है। मुझसे वह कम बोली है, लेकिन जितना बोली है, बड़ा मीठा। और बोली से ही आदमी जाना जाता है।

मैं वहीं खड़ी रही। शेखर और शोभना भीतर चले गए।

भीतर जाते हुए शोभना ने एक मुस्कान मेरी ओर फेंकी। उसमें खुशी थी और अपनेपन का आभास। उसकी वह मुसकान जैसे मुझसे चिपटकर रह गई। उसे आज भी नहीं भूल पाती। हमारी ज़िंदगी का एक क्षण कितना महत्वपूर्ण बन जाता है। शोभना इसी एक क्षण को पाने के लिए इतनी देर तक मेरे पास बैठी रही।

अब मैं अकेली हो गई थी। कमरे में पहुंचते हुए शोभना ने दरवाज़े बंद कर लिए थे। दरवाज़ों को मैं देखती, वे निस्पंद और जड़ थे। उनकी जड़ता मेरे चारों ओर फैल गई। मैं निरंजन के बारे में सोचने लगी। वह भी न जाने कहां रुक गया। वह आ जाए तो···!

खामोशी अधिक देर नहीं चल सकी। शेखर के कमरे से कुछ आवाज़ें सुनाई देने लगीं। पहले तो मैं समझी ही नहीं, फिर मेरी समझ में आया, कोई रिकार्ड

लगा था शायद। मैंने ध्यान से सुना, वह 'पाकीज़ा' का गाना था—'सरे राह चलते-चलते...।'

दो दिन पहले ही निरंजन के साथ मैंने यह फिल्म देखी थी। मुझे नायिका की करुणा अपने बहुत पास की लगी थी और इसीलिए मैं फिल्म देखते हुए उसमें डूब गई थी। यूं ही अचानक मुझे भी कोई मिल गया था एक दिन और उसने मेरी पूरी जिंदगी ही बदल दी।

४

निरंजनसिंह : अंधेरे में

मेरा नाम ठाकुर निरंजनसिंह है। मेरी मां मुझे नीरू कहती थी। पत्नी ने कभी नाम नहीं लिया। मंजरी मुझे निरंजन कहती है। तीनों के कहने का एक ढंग है। इन तीनों के ढंग मुझे पसन्द आते रहे हैं। मां अब है नहीं इसलिए मेरा नीरू मर चुका है। शेष दो जागरित और जीवित हैं। मेरे बच्चे हैं—दो पुत्र और दो पुत्रियां। मेरी अवस्था अभी अधिक नहीं है, चालीस के आसपास हूं। जब पढ़ता था, तभी ब्याह दिया गया था। और मैंने पढ़ा भी कितना! मेरे कस्बे में जितना पढ़ने को था, सब पढ़ लिया। इसलिए उस गांव के लोग मुझे खूब पढ़ा समझते हैं, पर गांव के बाहर मैं किसी अनपढ़ से कम नहीं हूं। कहूं कि उससे भी बुरा हूं, तो ठीक होगा। अनपढ़ की स्थिति लोगों से छिपी नहीं होती। वे उसके साथ वैसा सलूक भी करते हैं। समाज में जो स्थिति एक मध्यमवर्गीय व्यक्ति की होती है, वही अधपढ़े की, अपढ़ और पढ़े हुए के बीच समझिए। लेकिन मैंने दुनिया खूब देखी है। पिता तो मेरे जन्म के पहले ही चले गए थे। उनकी मृत्यु के दो महीने बाद मेरा जन्म हुआ और तभी से संघर्ष का अध्याय शुरू हो गया। उसकी भी एक लम्बी कहानी है, परन्तु यहां नहीं कहूंगा। अपनी मेहनत और मां के प्यार से मैं किसी तरह पार लगा। दुनिया के न जाने कितने रंग मैंने देखे हैं और ऊपर चढ़ी हुई परतों को मुझे समझने का मौका मिला है। समाज और गांव के लोगों से, बचपन से, मुझे लोहा लेना पड़ा।

पहला वक्त मुझे आज भी याद है। यह लांछन मेरी मां के चरित्र पर था। वह स्वस्थ और सुन्दर थी और मैं उसका एकमात्र बेटा था। सुना है, मेरे पिता की आयु अधिक थी। यह उनकी तीसरी शादी थी। इसलिए जब तक मैं बच्चा था, मां को क्या-क्या लांछन सहने पड़े, मैं नहीं जानता। कौन जाने, मैं स्वयं लांछित रहा होऊं।

उस दिन मेरा पन्द्रहवां जन्मदिन था। वह मेरे रिश्ते के शायद चाचा लगते

थे। घर में मां से कुछ बातें हुईं; मेरी मां के देवर जो ठहरे। बातों ही बातों में न जाने क्या मांग बैठे कि मां बिगड़ गई। उन्हें भला-बुरा कहने लगी। फिर क्या था, चाचाजी भी बिगड़ उठे और आग-बबूला हो गए। बोले—"बदज़ात औरत, मेरे भाई का नाम बदनाम करती है। यह छोकरा भी न जाने किसका है। गांव-भर जानता है, मेरा भाई उमर से बेज़ार था।"

मैं यह बात सुन रहा था। मैंने मां को भीतर बुलाया और उससे लिपटकर मैं खूब रोया। मैंने मां से पूछा कि क्या चाचा सच कहते हैं? उसने मुझे गोदी में भर लिया और खूब चूमा। फिर वह रोई, और रोई तो खूब रोई। जब उसके आंसू रुके तो उसने कहा—"नहीं बेटा, नहीं! तू उनकी पवित्र निशानी है। तेरे पिता बड़े सरस थे। उमर का प्रभाव उनपर नहीं था। प्रभाव होता तो वे तीन शादी कैसे करते? मैं उनकी तीसरी पत्नी थी। दो बिना सन्तान दिए चल बसी थीं। मेरा भरोसा कर मेरे बेटे।"

मैंने सुना तो मेरी आत्मा छटपटाने लगी। जबसे मैंने होश संभाला है, मां के पैरों को कभी नीचे गिरते नहीं देखा। मेरी आंखों में खून उतर आया। मैं बाहर आया तो चाचा भाग गए थे, परन्तु मुझसे न रहा गया। मैं उनके घर चला गया। मैंने उनकी मरम्मत की, खूब मरम्मत की। मैं जानता हूं, यह मैंने अच्छा नहीं किया, पर तब इतना विवेक कहां था? मैं उन्हें पीट रहा था कि उनके तीनों लड़के आ गए। वे तीनों मुझपर चढ़ दौड़े। मैं अकेला क्या करता? घायल होकर तीन महीने अस्पताल में पड़ा रहा। वहां से छूटा तो सीधे जेल चला गया। दो महीने की सज़ा काटकर घर आया। जेल की दुनिया सामान्य दुनिया से भिन्न होती है। वहां की जिन्दगी ही अलग है। इसलिए दो महीने में मैंने जो अनुभव पाए, शायद दस बरस में भी न मिलते। जेल से लौटा तो सबने मुझे ठुकरा दिया। कुछ लोगों ने रोटी देकर मिल जाने की बात कही, पर मेरा मन रोटी देने को तैयार नहीं हुआ। मां ने बहुत कहा, पर मैं न माना। अपने इकलौते बेटे की बात मां को रखनी पड़ी। फल यह हुआ कि मैं गांव-भर में तिरस्कृत रहा।

मैं जानता हूं, गांव का तिरस्कार क्या मायने रखता है। किसी का हुक्का-पानी बंद कर दो तो वह आत्महत्या कर लेता है। मैं इतना कमजोर नहीं था और न मैंने अपनी मां को कमज़ोर बनने दिया। सबसे कटकर भी मैं अलग नहीं था। मेरा स्वभाव बचपन से ही ऐसा था कि मेरे हमजोली रोकने पर भी नहीं मानते

थे। वे सब मेरे साथ खेलते थे। पंडितों के लड़के हों या फागू अहीर की लड़की, मेरे बिना कोई नहीं रहता था। मुझे लगता था, जैसे गांव की गलियां, नदी, पहाड़ और घाटियां तक मुझे जानते हैं।

इनके बावजूद मेरी मां परेशान रहती थी। उसे लगातार यह महसूस होता रहता था, जैसे वह पूरे गांव से कटी हुई है, इसलिए उसने मेरा विवाह करना चाहा। मैं तुरन्त तैयार भी हो गया। मेरी उमर के कई लड़कों के ब्याह हो चुके थे। मां ने ठाठ से मेरा विवाह किया और इसके साथ ही कई बंधन टूट गए। कई लोग मेरे घर आए और उन्होंने खाना भी खाया। और यह देखकर मेरी मां को असीम आनन्द हुआ।

गांव में ठाकुरों के मकान इने-गिने थे। हमारे पास सम्पत्ति की कमी नहीं थी। गांव-भर से अच्छी खेती हमारे यहां होती थी।

कई बार अकेले में मेरे सामने आसपास घूमते हुए चेहरे चक्कर काटते हैं। गांव के बूढ़े दादा सुखलाल का चेहरा, पंडित दामोदर का रोबदार तिलक और शमशेर की भारी मूछें। लेकिन ये सब एक ही भाषा में बातें क्यों करते हैं? पुरुष और स्त्री का आकर्षण एक सहज प्रक्रिया है। ज़रा सोचिए तो, कितनी अजीब बात है। सृष्टि की सहज प्रकृति के लिए रात का अंधेरा चाहिए, लेकिन अंधेरे में जो कुछ होता है, उसका परिणाम किसीको विचित्र नहीं लगता। कितने गर्व से नवजात शिशु को दिखाया जाता है। इतने खुले रूप से आनन्द मनाया जाता है। प्रक्रिया तिरस्कृत हो और परिणाम स्वागतेय, यह किसी ने और किसी संदर्भ में सुना है?

अंधेरा पाप नहीं है। पाप होता तो अंधेरे का प्रतिफल आदर का पात्र नहीं बनता। वह राजसत्ता का अधिकारी नहीं बनता। वही संन्यासी बनकर श्रद्धा का पात्र कैसे बन पाता? वही ईश्वर का स्वरूप लेकर क्यों पूजा जाता? आदमी के भीतर कितनी भटकन है! और ऐसे भटके हुए लोगों के झुण्ड की सत्ता को मैं कैसे स्वीकार कर सकता हूं!

मेरा विवाह हो चुका था और मैं सोचने लगा था, कल यही परिवार फलेगा और समाज बन जाएगा। एक अकेला व्यक्ति जब एक पूरा समाज बना सकता है तो फिर बने हुए घिसे-पिटे स्वार्थी लोगों की चिंता क्यों करनी चाहिए?

मैं बचपन से स्वच्छंद रहा हूं। अपनी इच्छा का त्याग न मैंने कभी अभीष्ट समझा और न कभी उसके विरोधी को सामने खड़े रहने दिया। इस स्वच्छद प्रवृत्ति ने मुझमें नेतृत्व की भावना भर दी। यह अलग बात है कि मैं किसी राजनैतिक दल में शामिल नहीं हुआ। उसकी इच्छा नहीं थी, अन्यथा वह भी कर सकता था। आखिर गांव की पंचायत से लेकर डेवलपमेंट ब्लाक तक का चुनाव वही व्यक्ति जीतता है, जिसे मेरा सहयोग मिलता है।

मैं भाग्यशाली रहा हूं—मैंने जो चाहा है, पाया है। मेरी इच्छाएं कभी बड़ी भी नहीं रहीं। स्वभाव से मेरा व्यक्तित्व रंगीन है और एक रंगीन आदमी के लिए इस दुनिया में यार-दोस्तों की कमी नहीं है।

घर में पत्नी थी और अब भी है। वह उसी परम्परावादी समाज की एक इकाई है जो रूढ़ियों से ग्रस्त है। वह मुझसे झगड़ती रहती है, लेकिन इसके लिए मैं उसे दोषी नहीं ठहराता। वह जो कुछ अपने आसपास देखती और सुनती है, वही तो करती है। वह अंधी और बहरी होती तो शायद ऐसा न करती। और कोई भी अंधी-बहरी स्त्री को अपने घर पत्नी बनाकर नहीं रखना चाहेगा। वह मेरे घर आई है तो उसकी देखभाल करना मेरा कर्तव्य है। वह मेरी 'धर्म-पत्नी' है। उसे सुखी रखकर मैं धर्म कमा सकता हूं और इसलिए अपनी ओर से मैं उसे कभी दुखी नहीं करना चाहता, लेकिन यदि सभ्यता और विकास के बावजूद नारी की नियति ही दुख पाना है, तो मैं क्या कर सकता हूं! मैं जानता हूं, मेरी पत्नी का झगड़ना समय की सीमा में बंधा है। वरना झगड़ने के बाद वह मुझे अपनी मांग में खूब गहराई से कभी न भरती। चूड़ियों की खनक में वह प्रेम का मादक संगीत कदापि न पाती और दुःख-सुख में पिछली बातें भूलकर वह अपना सहज स्नेह न प्रदान करती। हम झगड़ते हैं, खूब झगड़ते हैं, परन्तु ये झगड़े हमें मां-बाप बनने से नहीं रोक पाते। इसलिए मैं सोचता हूं कि विवाह में प्रेम नहीं होता। उसमें सिर्फ एक बंधन होता है। विवाह के पहले हमें अग्नि के चारों ओर घुमाया जाता है। अग्नि मर्यादा की प्रतीक है। मर्यादा के बाहर जाने पर यही अग्नि हमें जला सकती है। और मैं जानता हूं, यह मर्यादा सीमित है। इसलिए मैंने उसे कभी तोड़ने का यत्न नहीं किया। जब तोड़ा नहीं तो जलने की बात कहां रही?

एक ओर मैंने अपनी प्रेममयी किन्तु झगड़ालू पत्नी से प्रेम किया और दूसरी ओर उन औरतों के पास जाता रहा, जो किसी भी अनजाने पुरुष को पहली ही

भेंट में अपना सारा प्यार देने को तैयार बैठी रहती हैं। उनमें घृणा नहीं है। बनावट नहीं है। उनके हृदय में सरलता और सादगी है। जो उनके पास आता है, उनका हो जाता है। जब तक वहां है, उनका है। उसके बाद उनका कोई नाता नहीं। ये दोनों नाते अस्थिर हैं, फिर भी बंधे हैं। दूकानदार अपने ग्राहक को जानता है। ग्राहक दूकान को पहचानता है। मूल्य चुकाने में इसीलिए कभी मत-भेद नहीं हो पाता। और झगड़े की जड़ तो यही है। झगड़ा तब होता है, जब लेन-देन में खरापन न रहे। विवाह नाम की जिस संस्था से आज का समाज बंधा है, उसके इसी व्यवहार में कमी है। खरीददार कम कीमत देकर उससे ज़्यादा माल लेना चाहता है, और बेचनेवाला ज़्यादा कीमत देकर कम से कम माल देना चाहता है। यदि परम्परा की जड़ें ज़्यादा गहरी न होतीं, तो यहीं सिर कटने की नौबत आ जाती। पर, मैं सोचता हूं, वह समय दूर नहीं है। कारण, जड़ों का शोषण तो हो ही रहा है।

एक दिन इसी तरह एक दूकान में पहुंच गया। लाज के अनोखे अवगुंठन में मैंने वहां एक सुन्दरी को देखा। मैंने उसे छुआ तो वह सिहर उठी। उसकी इस सिहरन ने जैसे मेरे मन को हिला दिया। मन तब जाग उठा। उसने कहा, यह वह नहीं है, जो तुम सोचते हो। मैंने कमरे को देखा, भूल तो नहीं की आने में ? तभी एक कर्कश आवाज़ आई—"शीला !" वह एक पल को सिहरी, फिर उसने अपनी चूनर दूर फेंक दी और पैरों की पायलों के सहारे थिरक उठी। उसकी वह थिरकन आज भी मेरी आंखों की पुतलियों में समाई हुई है। वहां न ताल देने वाला तबलची था और न हारमोनियम पर सरगम छेड़नेवाला कोई हाथ। फिर भी वह ताल और लय के साथ जैसे बंधी थी। उसके घूंघट में एक अजीब सम्मोहन था। व्यवहार में वह अनाड़ी थी। तब उसकी नाक में सोने की एक नथ लटक रही थी। नथ मैंने तब देखी जब वह नाच चुकी। भीतर से एक अधेड़ औरत ने मेरे सामने आकर सिर झुकाया। बोली—"यह हुजूर की कृपा चाहती है।"

मैं इसका मतलब समझ गया था। नया तो था नहीं। यह मुझे अपना पहला प्रेमी बनाएगी। उसके लिए सैकड़ों रुपये चाहिए, और मेरे पास तब उसकी गुंजाइश थी नहीं। मुझे क्या मालूम था, आज बाज़ार इतना महंगा होगा। मैंने उस ताज़े फूल को अपनी विवश आंखों से एक बार देखा। फिर नज़र उठाकर उसके अधेड़ मालिक की आंखों में उतरा। उन आंखों में शरारत थी। भवें

अपने-आप तनी थीं। शायद वे भी आदत के सांचे में ढल चुकी थीं। वहां से खाली जाना भी शर्म की बात थी, बहुत बड़ी शर्म की। भोग-विलास आखिर घसियारों की नियामत थोड़े हैं? मैंने एक पल सोचा और तभी अनजाने एक विचार मेरे मन में उतर आया। मैंने पाकेट में हाथ डाला। डालते ही अपने हाथ को मैंने इतने ज़ोर से निकाला मानों किसी पहाड़ी विच्छू ने डंक मार दिया हो। इसके साथ काफी यत्न करके मैंने अपने चेहरे का रंग भी सफेद कर लिया। मैं अपने अभिनय में सफल रहा। उस अधेड़ औरत ने मेरे पास आकर तुरन्त पूछा—"क्या हुआ, हुज़ूर?"

मैंने आंखें घुमाईं और बोला—"सौ-सौ के पांच नोट लेकर घर से चला था। इस जेब में थे। सारे नदारद हैं। किसी ने पार कर दिए।"

लजवन्ती-सी छुईमुई हो जानेवाली उस नारी की भी सद्भावनाएं मैंने तत्काल पा लीं। उसने पास आकर मेरे कन्धे पर हाथ रखा। बोली—"बुरा हुआ!"

यह उसका प्रथम स्पर्श था। नारी के स्पर्श का अभ्यस्त हूं, पर यह तो एकदम नया था। मुझे लगा, किसी ने जलती हुई हथेली मेरी छाती पर रख दी हैं। मैंने कहा—"आप लोग मुझे माफ कर दें और कल फिर इसी वक्त मेरा इन्तज़ार करें।"

उन्होंने मुझे यूं नहीं छोड़ा। उन्होंने मुझे बैठाया और अपने यहां के नियमों के अनुसार मेरी खातिर की। सब नियम तो उन्होंने पाले, पर आखिर उनके भी कुछ नियम होते हैं। शीला पायलों को झनझनाती हुई भीतर चली गई। बाद में पता चला कि वहां कोई और मुसाफिर आ गया था।

दूसरे दिन किस तरह पांच सौ रुपये मैंने जमा किए, आपको नहीं बताऊंगा। यह कोई अच्छा काम तो था नहीं। पांच सौ रुपये किसी सार्वजनिक मंदिर के बनाने में तो लग नहीं रहे थे। इतनी बड़ी रकम मैं अपने निजी सुखों के लिए फेंक रहा था। वह भी तब जब मेरी अपनी पत्नी है, बच्चे हैं, मेरा परिवार है। ऐसा क्यों कर रहा था, मैं न तब जानता था और न आज जानता हूं। पांच सौ रुपये देकर मैंने वह लड़की पा ली थी। अब वह मेरी वेश्या-पत्नी के रूप में थी। उसके साथ मनमाना सलूक करने के लिए मैं स्वतंत्र था। मुझे कुछ अधिकार भी प्राप्त हो गए थे। एक पति अपनी पत्नी पर जो अधिकार पाता है, ये अधिकार

उतने तो नहीं थे, पर मैं केवल इतना ही जानता हूं कि उनसे भी मीठे थे। शीला को अब नया नाम देने का अधिकार मेरे पास था। इस अधिकार का मैंने उपयोग किया और शीला तभी से मंजरी बन गई।

वह रात मैं आज भी नहीं भूल सकता। मंजरी रात-भर महकती रही, परन्तु उसकी सुगन्ध में न जाने क्यों मैंने मादक अनुभूति नहीं पाई। मैं बराबर सजग रहा। आत्मविस्मृत होकर खो नहीं पाया। वह भी शायद ऐसी ही रही होगी। उस रात वह कम बोली, पर जो बोली वही काफी था। आखिर दूसरा पहर बीता। तीसरे का आरम्भ हुआ। जब वह भी अवसान पर आया तो मुझे अपनी पत्नी की याद आ गई। उस पत्नी की, जिसने आज सवेरे से खाना नहीं खाया था, क्योंकि आज शिवरात्रि का व्रत था। शाम को पूजन कराने का उसने कितना आग्रह किया था, परन्तु मैं उसे कैसे स्वीकारता ! पार्वती ने वर्षों तपस्या की थी। अपने तन को तपा डाला था, तब शंकर मिले थे। मेरी पत्नी ने भी तो आखिर कुछ वरस तपस्या की ही होगी, मेरा मन छटपटाया और मैं वहां से चला आया।

थोक सौदा लेने में लाभ होता है। यहां भी मुझे लाभ ही हुआ। भटकने की स्थिति नहीं रही। घर से निकलते समय जेब भी नहीं टटोलना पड़ता था। जैसे यह घर मेरा है, वैसे ही वह भी मेरा है। और वह घर चाहे हो या न हो, मंजरी तो मेरी है ही।

दूसरे दिन मंजरी कम झिझकी। मेरा हाथ पकड़कर वह अपने शयन-कक्ष में ले गई। मुलायम गद्दों पर बैठा मैं उसके सिर पर घंटों हाथ फेरता रहा और फिर उसकी सुनहरी देह के साथ खेलता रहा। इसी बीच वह एकाएक फूट पड़ी, जैसे किसी बड़े बांध को मिट्टी एकाएक खिसक गई हो। वह सिसकने लगी। सिसकियां बन्द करने के लिए उसने अपनी साड़ी का छोर मुंह में ठूंसा। वह जानती थी, इस सिसकने में लाभ नहीं है, इससे हानि ही ज़्यादा होगी। एक ओर मैं नाराज़ हो सकता था और दूसरी ओर वह अधेड़ औरत उसपर बरस सकती थी, जिसे वह 'मौसी' कहकर बुलाया करती थी।

उसका रोना मुझे बुरा नहीं लगा। मैंने उसके सिर को अपनी गोद में रख लिया और उसे रोने दिया। मैं नहीं चाहता था कि उसे रोकूं। मैं जानता हूं, रोने से मन का दर्द कम होता है। सिर का बोझ हल्का हो जाता है। एक घंटा वह रोई और फिर खुद उसने अपने आंसू मेरी धोती से पोंछ लिए।

मैंने पूछा—"क्यों रो रही थीं ?"

उसने कहा—"यों ही, किसी की याद आ गई थी ।"

"किसी पुराने प्रेमी की ?"—मैंने पूछा ।

"नहीं,"—वह बोली ।

—"फिर ?"

—"ऐसे ही, निरंजन बाबू ! मुझे माफ कर दो । मैं विवश हूं ।"

"मंजरी !"—मैंने अचानक ही कह दिया । उसने आंखें उठाकर मुझे देखा । उसकी नन्हीं आंखों में आंसुओं की बूंदें ओस-कण जैसी तैर रही थीं । एक अजीब-सी चमक उनमें आ गई थी । जैसे दूब पर पड़ी ओस पर आ जाती है, जब सूरज की पहली किरणें उसे चूमती हैं । मैंने आंख भरकर उन आंखों को देखा । फिर उसे अपनी बाजुओं में मैंने समेट लिया । मैंने कहा—"मुझे अब पराया न मानो मंजरी, और न उन खरीददारों की तरह समझो जो यहां आकर अपने रुपये की पूरी कीमत वसूलना चाहते हैं । मैं तुम्हारे सुख का ही नहीं, दुख का भी साथी हूं । और जब कभी जो मन में आए, कहने में मत हिचकना । मैं कोई बात बार-बार नहीं कहता, लेकिन जो कहता हूं उसे अच्छी तरह समझता हूं । इसके बावजूद यदि तुम अंतर रखोगी तो वह तुम्हारा दोष होगा ।"

५

मिस गोरावाला : बूची टैरेस

बम्बई के लिए यदि जुहू एक प्रतीक है तो जुहू के लिए 'बूची टैरेस' एक अस्तित्व। मैं इसकी मालिक हूं; मैं यानी मिस गोरावाला। मेरे यहां चार किरायेदार रहते हैं—एक प्रोफेसर है, यहां के सिहनम कालेज में हिन्दी पढ़ाता है। आदमी सीधा और सरल है। बम्बई में दो वर्ष से है, परन्तु अभी तक इस शहर का रंग उसपर नहीं चढ़ पाया।

दूसरी एक लड़की है—मिस कमला अय्यर। दक्षिण भारत की है और मेसर्स ग्रीन एण्ड ग्रीन में रेसेप्शनिस्ट है। ढाई वर्षों से वह 'बूची टैरेस' में रहती है। रंग उसका गहरा सांवला ज़रूर है, परन्तु नाक-नक्श तीखे हैं। उसकी आवाज़ मीठी है। गले में सुरीलापन है, इसलिए रात को वह अकेले में गाती भी है। उसके बोल मैं बराबर सुनती रहती हूं। उसे साड़ी पहनने का शौक है और हर रोज़ नयी साड़ियां पहनना उसकी हाबी है। अपने बालों में वह अंगूर जैसे गुच्छे बनाती है। आंखों में उसके चश्मा रहता है, और ये सब मिलाकर उसे एक खासा आकर्षक व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। मैं उसे पसन्द करती हूं। वह किसीकी अच्छाई-बुराई में नहीं पड़ती और सारी बातें मुझसे बता जाती है। मुझे वह मैडम कहती है और मेरी हर बात मानती है।

मेरा तीसरा किरायेदार शेखर है। उत्तर प्रदेश से वह आया था और पहले किसी हिंदी पत्रिका का सम्पादक था। अब वह क्या करता है, मैं नहीं जानती। इतना ही जानती हूं कि वह काफी व्यस्त आदमी है। उससे मिलने बड़े-बड़े लोग आते हैं। वह बातें अच्छी करता है। उससे बातें कर नयी-नयी बातों की जानकारी मिलती है। शेखर के कारण 'बूची टैरेस' का नाम और विख्यात हुआ है। नयी-नयी लड़कियां उसके पास आती हैं और छुट्टियों के दिनों में तो यहां गुब्बारों की तरह रंग-बिरंगी छात्राएं जमा हो जाती हैं।

चौथा फ्लैट काफी दिनों तक खाली रहा। पहले यहां एक फिल्म कम्पनी

का असिस्टेंट डायरेक्टर रहता था। गुजराती था वह और बड़ी-बड़ी बातें करता था। कहता था कि वह एक ऐसी फिल्म बना रहा है, जो क्रांतिकारी होगी। उसने कहा था कि उस फिल्म में वह मुझे भी काम करने का मौका देगा। यह सुनकर न जाने क्यों मुझे लगने लगा था, जैसे मेरी उमर कम होती जा रही है। मैं रोज़ आईने के सामने घंटों खड़ी रहने लगी थी। खूब शृंगार करती और हिन्दी फिल्मों में अभिनय करनेवाली लड़कियों की तरह मैं भी अकेले में अभिनय करती। लेकिन एक दिन वह चुपचाप भाग गया। सवेरे मैंने देखा तो फ्लैट खाली पड़ा था। फिर बहुत दिनों तक उसका रास्ता देखती रही, वह नहीं लौटा।

उसके जाने के बाद मैं सतर्क हो गई। मैं सबसे एडवांस किराया लेने लगी। मैं सबको 'पेइंगगेस्ट' बताती हूं। इससे कई सरकारी कानूनों से बचत हो जाती है और मेरे किरायेदार भी मेरी मरज़ी पर टिके रहते हैं। मैं जिस दिन चाहूं, उन्हें निकाल सकती हूं। परन्तु मैं ऐसा करती नहीं। दूसरे किसी किरायेदार ने ऐसी नौबत नहीं आने दी।

मेरे इस चौथे फ्लैट में अब मंजरी है। उसके साथ एक आदमी और है। निरंजन उसने अपना नाम बताया है, परन्तु मेरेलिए अस्तित्व मंजरी का है, क्योंकि मेरे किरायेदार में उसीका नाम है।

मंजरी सीधी और सुन्दर है। निरंजनसिंह बुरा नहीं है। मुझसे उसने बातें ही कितनी की हैं! प्रोफेसर ने इन दोनों का परिचय मुझसे कराया था। थोड़े दिन मुझे बड़ा भ्रम रहा। मैं इन्हें पति-पत्नी समझती रही और इसलिए परेशान भी रही। मैं विवाह-जैसी संस्था का विरोध करती हूं, इसलिए मेरे घर मेरा कोई विरोधी किरायेदार रहे, मैं बर्दाश्त नहीं कर सकती। अपने उसूलों को छोड़ना मेरे स्वभाव के विरुद्ध है। मैं अपनी छाया में किसी भी विवाहित पुरुष और नारी को शरण देने के लिए तैयार नहीं हूं। वे एक घिसे-पिटे और मरे हुए सम्प्रदाय के प्रतीक हैं। इसीलिए तीसरे दिन मैंने मंजरी को बुलाया था और कहा था—
"तुम बहुत अच्छी हो, परन्तु···।"

मंजरी घबरा गई थी। आगे चलकर मुझे उसके बारे में जो पता लगा, उससे उसका घबराना सहज था।

"परन्तु तुम्हें बूची टैरेस छोड़ना पड़ेगा! यह मरे हुए आदमियों का कब्रगाह

मैं मिस हूं और मेरी तीन बेटियां हैं। जीवन को किसी बन्धन में कसना, मैंने अभीष्ट नहीं समझा। निर्बन्ध ही रहकर जीवन भोगा जा सकता है। इसी से मैंने विवाह नहीं किया। पर मैंने प्रेम नहीं किया, यह कहना गलत है। मैंने कई विवाहित देखे हैं। मैं सोचती हूं, वे प्रेम करना नहीं जानते। मैंने सच्चा प्रेम पाया है और सच्चा प्रेम दिया है। मैंने जिसके लिए प्रेम में ज़रा-सी खटाई देखी, उसे फिर अपने सामने ठहरने नहीं दिया। उसे मैं इस तरह भूल गई, जैसे वह कभी मेरे जीवन में आया ही नहीं। इस तरह के कई लोग मेरे प्रवाह में आए हैं। उक्त व्यापारी ने तो मेरी धारा को रोकने का प्रयत्न किया था। कुछ दिन उसने वह रोकी भी। इसीलिए मैं नहीं चाहती कि मेरे फ्लैट में कोई विवाहित रहे। मैं किसी ऐसे व्यक्ति को शरण नहीं देना चाहती जो असलियत को न पहचाने और भ्रम में पड़ा हो, जो शून्य में भटकता रहे।

मैं कुमारी हूं, फिर भी मां हूं, यह मैं गर्व से कहती हूं। मैं उन लड़कियों जैसी नहीं रही जो प्रेम तो करें, पर मां बनते ही घबरा जाएं और आत्महत्या करने लगें। अब तो मैं उतरती धार का पानी हूं। कुछ लोग मुझसे पूछते हैं: "तुम्हें इन लड़कियों को जन्म देते समय शर्म नहीं आई?"

मैं उन्हें दुतकारती हूं। कहती हूं—"तुम पुरुष हो! तुम्हें किसी नारी से प्रेम करते समय शर्म नहीं आती? प्रेम करते समय तुम उसे बड़े-बड़े सब्ज़बाग दिखाते हो। उसका प्रेम पाने के लिए, उसके तलुए तक चाटते हो और जब तुम्हारा प्रेम उसके गर्भ में अंकुर फोड़ने लगता है, तो तुम उस समूची धरती को ही खोदकर फेंक देना चाहते हो। तुम उसे बेबस और असहाय छोड़कर भाग जाते हो। तब तुम अपने दिए वचन तो भूल ही जाते हो, उसे कुलटा और बदचलन कहलाने के लिए आवारा छोड़ देते हो। तुम स्वयं राम बनना भूलकर उसे सीता के रूप में देखना चाहते हो। इसीसे मैं ऐसे लोगों से नफरत करती हूं।"

कोई मुझसे यह भी पूछता है कि इन लड़कियों का पिता कौन है? मैं तब दांत पीसती हूं। कहती हूं—"तुम!" वे इसपर यदि तर्क-वितर्क करें, तो मैंने उनके लिए चमड़े का एक कोड़ा लेकर रखा है। वहां हाथ ले जाते ही फिर वे गायब हो जाते हैं। मैं उन्हें और क्या उत्तर दूं? एक बच्चे का बाप कौन होगा? पुरुष ही तो होगा न? क्या पुरुष कहना ही काफी नहीं है? उसमें भी कुछ भेद

है ? मेरी इसी वृत्ति से कुछ लोग डरने लगे हैं। पर मैं ऐसी कुछ हूं नहीं। मैं पूछती हूं, क्या और बातें इस दुनिया में नहीं हैं ?···तुम कौन हो ? क्या करती हो ? कहां से तुम्हारे पास पैसा आता है ? तुम्हारा पति कौन है ? लड़कियां किसकी हैं ? क्या यही बातें सार हैं।· इनके सिवाय बात करने को क्या कुछ और नहीं है ? बहुत कुछ है, पर मैं जानती हूं, ऐसे लोगों को मज़ाक उड़ाने की अच्छी सामग्री मिल जाती है। वे शायद उसी की खोज में रहते हैं।

मेरी तीनों लड़कियां सुखी हैं। अब वे मेरे पास नहीं हैं, कभी-कभी आती हैं। उन्हें देखकर मैं प्रसन्न हो उठती हूं। तीनों बेटियां बेहद हसीन हैं और जुही की तरह महकती हैं। यह मैं अपनी ओर से नहीं कह रही। मैं तो शेखर की बातें दुहराती हूं। उसने मेरी तीनों लड़कियां देखी हैं। वे उसकी मित्र भी रही हैं। वह उन्हें सिनेमा ले जाता था। शेखर को बड़े-बड़े किस्से आते हैं। उन्हें सुनाकर वह उनका अच्छा मनोरंजन करता था। एक दिन उसीने कहा था—"मैडम गोरावाला, तुम्हारी तीनों बेटियां खूबसूरत हैं। सलीका उनमें कूट-कूटकर भरा है, एक ग्लायडोला है, दूसरी क्रिसथिमम और तीसरी नरगिस है। तीनों तीन तारों की तरह इस आकाश में जगमगाती हैं—एक मंगल है, दूसरी शुक्र और तीसरी गुरु।"

शेखर की इस बात से मैं प्रसन्न हूं। उसकी बुद्धि तेज़ है। उसने तीनों को खूब परखा है। तीनों सचमुच में तीन तारों की तरह हैं। और तब मैं शेखर से कहती हूं—"तू मेरा चौथा तारा है, ध्रुवतारा।"

वह मुझसे लिपट जाता है और मैं उसे चूम लेती हूं। तीन बेटियों के बीच, यह मेरा चौथा बेटा है। मेरी बेटियां सुखी हैं, यह मैं पहले कह चुकी हूं। एक यहीं मैरिन ड्राइव में रहती है। जिसके साथ रहती है, उसकी सोने-चांदी की दूकान है। लखपती तो कम से कम होगा ही। उसके पास दो मोटरकारें हैं। एक उसने मेरी बेटी को दे रखी है, स्टेंडर्ड का नया डिज़ाइन 'गजल'। उसमें बैठकर मेरी बेटी अक्सर मेरे पास आती है। रविवार को उसे भी साथ लाती है। दोनों जुहू के किनारे सारा दिन बिताते हैं। उस सेठ का अपना अलग परिवार है। पर उसने मैरिन ड्राइव के एक अच्छे-से चेम्बर में मेरी बेटी के लिए, एक बड़ा फ्लैट ले रखा है। ज़्यादा समय वह वहीं गुज़ारता है। उसकी व्याहता औरत रोती है, आहें भरती है और मेरी बेटी के इशारों पर वह बन्दर की तरह नाचता

है। उसकी औरत को रोना चाहिए और वह ज़िंदगी-भर रोती रहेगी।

दूसरी बेटी कोलाबा में रहती थी, अब कलकत्ता चली गई है। उसका प्रेमी जहाज़ में कप्तान है। उत्तर प्रदेश का रहनेवाला है। पंजाब में उसका घर था। अब तक कंवारा है और कहता था, सदा रहेगा। उसे दो हज़ार रुपये महीने वेतन मिलता है। उसके साथ मेरी बेटी भी अक्सर घूमती रहती है। चीन, जापान, बर्मा और आस्ट्रेलिया घूम आई है। साल में दो बार वे दोनों यहां आते हैं। एक सप्ताह रहते हैं। दोनों में बड़ा प्रेम है और उनके प्रेम को देखकर मेरी आत्मा संतोष पा लेती है।

मेरी सबसे छोटी बेटी एयर होस्टेस है। विमान में चलनेवाले यात्रियों की सुख-सुविधा का ध्यान रखना उसका काम है। वह मुख्य रूप से दिल्ली में रहती है, पर महीने में कम से कम सात दिन बम्बई तो आती ही है। एयर होस्टेस के नाते उसके सम्पर्क में अच्छे-अच्छे लोग आए हैं। सुना है अब वह नौकरी छोड़कर बम्बई आनेवाली है। 'ओकर फिल्म स्टूडियो' के मालिक को उसने पटा लिया है। यह एक बहुत बड़ी फिल्म कम्पनी है। इसके कई हिन्दी चित्रों ने सिलवर जुबली मनाई है। अब वह अंग्रेज़ी में भी एक फिल्म बनाना चाहता है, और मेरी बेटी को इस पहली अंग्रेज़ी फिल्म में हीरोइन बनाने का वह वचन दे चुका है। मैंने सुना है, उसने कान्ट्रैक्ट भी कर लिया है। मैं प्रसन्न हूं। भारत में बने पहले अंग्रेज़ी चित्र की मेरी बेटी नायिका होगी। फिर देखना, उसका बाज़ार कितना बढ़ता है। मैं फिल्मी लोगों को जानती हूं। एक तो मेरे टैरेस में रह चुका है। बाजू में सब फिल्मवाले ही रहते हैं। इनका दिमाग कितना कच्चा होता है। एक दिन मैंने 'रश्मि फिल्म्स' के डाइरेक्टर को एक किस्सा सुनाया था। किस्सा क्या था, समय पार करना था तो कुछ भी कहती गई। सुनकर वह बड़ा खुश हुआ था। कहने लगा—"बस इसे लिख दो। इस पर अच्छी फिल्म बन सकती है। मैं तुम्हें इस फिल्म की कहानी-लेखिका के रूप में सामने रखूंगा।"

मैंने उसे भगा दिया था। ऊटपटांग बातें और कहता था अच्छी फिल्म बनेगी। अब तो मेरी बेटी अंग्रेज़ी चित्र में काम करेगी। मैं अपनी बेटी से कहूंगी कि वह मेरे पास रहे। मैं देखूंगी कि निर्माता और निर्देशक कैसे उसके चरण चूमते हैं। मैं तब हिन्दी फिल्मों में उसे काम ही नहीं करने दूंगी। हिन्दी फिल्मों के निर्माता दिवालिये होते हैं; दिमाग के और दिल के भी! यदि किसी ने बहुत

जोर ही लगाया तो मैं उससे दो लाख रुपये एडवांस लूंगी।

मैं काफी सुखी हूं। चार सौ चालीस रुपये मेरे फ्लैट का किराया आता है। मेरी बेटियां जब आती हैं, सैकड़ों रुपये दे जाती हैं। इसलिए पैसों की कमी मुझे है ही नहीं। कभी रही नहीं। शेखर मेरे एकाकी जीवन का एक बड़ा सहारा है। वह मेरे प्लैट में रहता है और उसका किराया देता है, परन्तु मैं उसे अपने बेटे की तरह मानती हूं। हां, किराया लेना मैं नहीं छोड़ती ? छोड़ूं क्यों ? पैसा और रिश्ता दो अलग चीज़ें हैं। इनका भला क्या साथ ? शेखर भी इस तथ्य को जानता है। इसलिए मेरी मान्यताएं निवहती चली जा रही हैं। शेखर को मैं जानती हूं, अच्छी तरह जानती हूं। वह मुझसे कुछ छिपाकर नहीं रखता। मेरा भी उससे कुछ छिपा नहीं है। वह जानता है कि एक अमेरिकन फर्म का मैनेजर आजकल मेरे पास आने लगा है। उसने मेरी कोई बात कभी किसी से नहीं कही, इसलिए मैं उससे सन्तुष्ट हूं।

शेखर पढ़ा-लिखा है सीधा और सरल है, सुखी और संतुष्ट भी है। और इन सबके ऊपर वह क्वांरा है। चिर कुमार रहने का उसने व्रत ले रखा है। पर कई लड़कियों से उसकी दोस्ती है। उनमें से कुछ को तो मैं भी जानती हूं। ये अक्सर उसके पास आती हैं। शोभना, सत्या और भामा उसकी ज़्यादा 'पेट' हैं। सरला नाम की एक लड़की और है। किसी स्कूल में वह शिक्षक है। पर शेखर कहता है—"वह मेरी बहन है।" एक-दो बार मैंने सरला को देखा भी है। एक बार तो वह शेखर को राखी बांध रही थी। शेखर ने उसे कश्मीरी सिल्क की एक बढ़िया साड़ी दी थी।

वह कहता है—"मैडम, प्यार की ज़िन्दगी में स्नेह भी ज़रूरी है। वह हमारे मन को कलुषित होने से बचा लेता है। तालाब के पानी को मछलियां ही साफ रखती हैं। पानी साफ रहे इसलिए वहां मछलियों का रहना ज़रूरी है। प्यार की दरिया को साफ रखने के लिए भी कोई पवित्र बन्धन ज़रूरी है। सरला मेरी इस ज़रूरत को पूरा करती है।"

शेखर दिन-रात पढ़ता रहता है। कहता है—"वेदों में बहुत कुछ लिखा है। वेदों में ज्ञान का अगाध भण्डार है।" वह मुझे वेदों की बात बताता है। उसकी बातें मुझे अच्छी लगती हैं। इसलिए कि उसकी बातों से साबित होता है, मैं जो कुछ कह रही हूं, पाप नहीं है। मेरे मन को यह भाता है, बस, यही मेरेलिए

पुण्य है। यही तो वेद कहते हैं।

मंजरी को आए दिन अधिक नहीं हुए। यह लड़की सीधी तो है, पर लगता है, जैसे उसके मन में न जाने कितनी गर्म और ठण्डी जल-धाराएं बह रही हैं। वह यहां क्यों आई है, उसने नहीं बताया। मैं पूछती भी कैसे। पर मैं देखती हूं, निरंजन दिन-भर भटकता रहता है और प्रोफेसर भी उसका साथ देता है। दोनों अकेले में बातें करते हैं। कोई बड़ी पहेली उनके सामने है, उसे वे सुलझाना चाहते हैं। मैंने कई बार चाहा उनसे पूछूं, पर मैंने नहीं पूछा। पूछूं क्यों? एक दिन वे स्वयं बताकर रहेंगे।

मंजरी को अंग्रेज़ी नहीं आती। उसके बात करने का ढंग भी देहाती है। वह बम्बई की बोली से बहुत दूर है, पर वह उसके बहुत करीब आ जाना चाहती है। उसने एक दिन कहा था—"मदर, मुझे अंग्रेज़ी पढ़ा दो। मुझे बम्बई की बोली सिखा दो। मुझे यहां की तरह साड़ी पहनना नहीं आता, वह भी बता दो।" मैंने तब उसका परिचय मिस कमला अय्यर से करा दिया था। मिस अय्यर साढ़े नौ बजे घर से निकलती है, शांताक्रुज़ तक बस से जाती है। वहां से लोकल लेकर बोरीबन्दर। बोरीबन्दर में एक बहुत बड़ा होटल है—मेसर्स ग्रीन एण्ड ग्रीन। वह वहां रिसेप्शनिस्ट है। होटल से वह साढ़े छः बजे लौटकर यहां आ जाती है। कमला होटल में काम ज़रूर करती है, उसपर होटल का रंग नहीं चढ़ पाया। वह न बाल डान्स जानती, न फॉक्स रॉक। रॉक-एन-रॉल तो दूर की बात है, उसने कभी फ्रॉक भी नहीं पहनी। बस, साड़ी पहनना जानती है। रोज़ एक बढ़िया साड़ी। हर रोज़ नये ढंग से भी पहनती है। वह काफी पढ़ी-लिखी है।

मंजरी कमला से परिचय पाकर खुश थी। उसी ने एक दिन कहा था—"तुम्हारा आभार मानती हूं। कमला एक अच्छी दोस्त है।" बाद में उसने 'थैंक यू' भी कहा था। तब मैं मुसकरा दी थी। कितनी लगन है इस लड़की में! इसने अंग्रेज़ी सीखना भी शुरू कर दिया। वह ज़रूर आगे बढ़ेगी और एक दिन इस शहर को अपनी मुट्ठी में बंद करके रहेगी।

६

शेखर : डायरी—एक खोज

सोमवार
रात्रि : १२ बजे

मेरा कमरा शांत है। बाहर हालत कुछ मिलती-जुलती ही होगी, क्योंकि आज सोमवार है। शनिवार या रविवार की शाम होती तो ऐसी शांति मुश्किल थी। मेरी खिड़की के पास भुतैली-सी थकी-थकी चांदनी बैठी है। गुनगुनी-सी सफेद हवा उसके साथ खेल रही है। नींद मुझसे कोसों दूर है। सभी की आंखों में नींद की नीली झील पर कोहरा नहीं छाता। जो विस्मृत की कब्रों पर उगी हुई पीली घास देखने के आदी हैं, उनसे नींद का वैर स्वाभाविक है। एक ज़माना बीत गया, न जाने क्यों रात को ही नींद आकर मेरे दरवाज़े या खिड़की में बैठ जाती है और मुझसे बातें करने लगती है! शायद उसे एकान्त पसंद है, परन्तु मेरा ही एकान्त क्यों?

मैं कोई दुखी व्यक्ति नहीं हूं। मौज-मज़े में हमेशा मेरी ज़िन्दगी कटी है। एकान्त में बैठा न मैं सन्नाटा बुनता और न उसका उपयोग उठाता। मेरे सामने पुस्तकों की एक बड़ी दुनिया है। उनमें डूबते ही फिर पता नहीं रहता, हम कहां हैं!

जब से शोभना से परिचय हुआ है, बहुत कुछ बदल गया है। और लड़कियों से वह एकदम भिन्न है। आमतौर से लड़कियां अपने आसपास एक घेरा-सा बनाकर चलती हैं, शोभना ऐसा नहीं करती। जब वह आती है तो मेरे कमरे की हो जाती है, इसलिए उसका जाना मुझे खलता है।

कल बस में हम दोनों कोलाबा जा रहे थे। रास्ते में एक आदमी ने पूछा —"साहब, कितना बजा है?"

मैंने घड़ी देखकर सहज उत्तर दे दिया—"बारह!" शोभना ने हंसते हुए मुझसे कहा था—"जब कांटे पर कांटा आता है तो क्या होता है?"

उसके मर्म को समझने में मुझे २-३ मिनट लगे थे और जब अर्थ समझ में आया तो मैं स्तब्ध रह गया। हम दोनों जोर से हंसे और उस पूरी शाम हंसते ही रहे। उसकी बोल्डनेस मुझे पसंद है, इसलिए कि उसके मन में जो आता है, उसे कहने में वह संकोच नहीं करती।

उसे देखकर जर्मनी के विख्यात कवि रिल्के की ये पंक्तियां याद आ जाती हैं :

न हमारी आंखें हैं आत्मरस
न हमारे होंठों पर शोक गीत
जितना कुछ ऊब सके ऊब लिए
हमें अब किसी भी व्यवस्था में डाल दो
जी जाएंगे।

इसे सिद्धान्तहीनता, पुंसत्वहीनता अथवा पलायन कहा जा सकता है। कहा जा सकता है कि व्यवस्था का ढर्रा मनुष्य के सम्पूर्ण अस्तित्व को लील रहा है और वह घटकर अ-व्यक्ति हो रहा है। यांत्रिकता में फंसे महानगरों की यही नियति है। ऐसे में यदि शोभना जैसी लड़की मिल जाए तो चाहे वह आत्मरस होने का एक झूठा खेल हो, है तो। मैं जानता हूं, शोभना किसी भी कमिटमेंट में जीने की आदी नहीं है, इसीलिए वह मेरी मित्र है। जो एक कमिटेड ज़िंदगी जीते हैं, मैंने उन्हें पास से देखा है। उन्हें देखकर मुझे अक्सर लगता है, वे जीते ही क्यों हैं ? क्या जीना उनकी मजबूरी है ? इससे तो बेहतर है सबको नमस्कार करें और यहां से चले जाएं। यदि तुम हमें रखना नहीं जानते तो हम रहें क्यों ?

···आज शाम शिवाजी पार्क में स्वामीजी का भाषण था। महाभारत की चर्चा करते हुए उन्होंने द्रौपदी की महानता बताई थी। कितनी गलत परिभाषाएं ये धर्म प्रचारक करते हैं। द्रौपदी के चरित्र को मैंने गहराई से सोचा है। मुझे उसके साथ संवेदना है। पांच व्यक्तियों की पत्नी बनकर रहना मज़ाक नहीं है। पांचों के साथ अलग-अलग एक-सा व्यवहार करना और उस क्षण उस एक व्यक्ति के साथ देहरस होकर उसे ही महान् बताना, एक नाटक नहीं तो क्या है ? अर्जुन और नकुल में क्या बराबरी है, परन्तु द्रौपदी के लिए दोनों एक

हैं। मैं बहुत बार सोचता हूं कि सप्ताह में दो दिनों का उसे जो अवकाश मिलता था, उसमें वह क्या सोचती रही होगी ! इन पांच चेहरों में से कौन चेहरा उसके सामने नीले लिफाफे की तरह उभरता होगा !

पांच समर्थ व्यक्तियों की एक पत्नी सबके सामने लूट ली गई और वह न जाने किस भय से बंधी थी कि चली भी गई। यदि वहां शोभना होती तो वह निश्चित रूप से चीखकर कहती—"मेरा इन पांच नपुंसक लोगों से कोई संबंध नहीं है। मैं यदि नारी हूं तो पुरुषों के लिए, शिखंडियों के लिए नहीं। इसलिए मुझे न जुए में हरा सकता है और न खरीदा जा सकता है। हो सकता है, शोभना इस घोषणा के साथ आगे बढ़कर स्वयं दुर्योधन का हाथ पकड़ लेती और इन पांचों व्यक्तियों पर थूककर चली जाती। तब कितना बड़ा आघात होता और इतिहास का रास्ता ही बदल गया होता !

इतनी सामर्थ्य कितने लोगों में है ! मंजरी इसका उदाहरण है। मैं अभी पूरी तरह उसे नहीं जान पाया, लेकिन जितना जानता हूं, उतना काफी है। कौन-सी विवशता है उसके साथ! ···लेकिन नहीं, इस देश में इस तरह की बातें करना आज भी पाप है! उसका जो परिवेश है, वह बम्बई के समन्दर की तरह खुला और फैला हुआ नहीं है। उसे कहां-क्या हो रहा है, कुछ तो नहीं मालूम···! ऐसे ना-मालूम व्यक्तियों की चर्चा बेकार है। क्रांति नहीं होती उनसे, वे हमेशा हर घटना के मात्र एक पिछलग्गू होते हैं।

···'बंगला देश' की मदद के लिए 'विद्या-भवन' में एक जलसा हुआ था। एक कविता किसी ने सुनाई थी, पूरी तरह याद नहीं है, लेकिन उसके अर्थ कुछ इस तरह हैं :

"बता सकते हो—
बंगला देश की
स्तन कटी औरतों के ज़ख्म का क्या रंग था ?
कहां भाग रही है···
युगांडा की नंगी लड़की
अपनी ज़मीन छिन जाने के बाद ?

कौन है वह—
वियतनाम में मारे गए
सैनिकों के लाशों की तसवीर
जो कलेजे से लगाए
पागलों की तरह चीख रही है ?

इनका उत्तर किसी के पास नहीं है ! द्रौपदी के पास भी तो कोई उत्तर नहीं था। क्या सचमुच कुछ सवाल ऐसे भी होते हैं, जिनके उत्तर नहीं होते ? गणितशास्त्रियों के लिए चुनौती नहीं है यह ? कौन चुनौतियों को स्वीकार करता है !

···मिस गोरावाला कितनी अच्छी हैं।···और उनसे अच्छी उनकी लड़कियां हैं···यह 'वूची टैरेस' क्या है ? इसमें यह मूंछवाला देहाती निरंजनसिंह कहां से आ गया ? यूं एक जगह से एक लड़की को भगाना और दूसरी जगह ले जाकर रखना निहायत पुरानापन है।···बहरहाल, चांदनी को बोरियों में मत बंद करो, उसे चांदी के सांपों के साथ खेलने दो···लाठी टेकते हुए सवेरे का पहेरुआ चला आ रहा है, उसे पहचानो, मेरे दोस्त !

७

मंजरी : भागती हुई गिलहरियां

सागर ज़िले में एक गांव है, नाम है अमरपुर। यही मेरे बचपन का गांव था। गांव बहुत बड़ा नहीं था। कोई दो-ढाई हज़ार लोग वहां रहते थे। नाम था अमरपुर, पर नरकपुर से कम नहीं था। नरकपुर इसलिए नहीं कि वह दूसरे गांवों से बुरा था। गांव तो वह और गांवों जैसा ही था, पर वहां के लोग बड़े अजीब थे। कहीं तीन-चार लोग मिल जाए तो फिर उनकी अटूट बातों का सिल-सिला परेशान कर देता था।

उनकी बातें गांव के किसी व्यक्ति पर होतीं। उसकी और उसके परिवार की वे पूरी तफसील पेश करते, जैसे उस परिवार का भीतर-बाहर वे खूब जानते हैं। उनकी चर्चा का विषय मेरे पिताजी भी बहुत रहे हैं—पंडित रामस्वरूप चौबे।

चौबेजी को उस गांव में कौन नहीं जानता। पंडिताई कराना उनका पेशा था। सत्यनारायण की पूजा और तीज-त्योहार तथा नवरात्र जैसे पर्वों में उनकी बड़ी पूछ होती। गांव में पंडितों के दस घर थे। उनमें सात पंडिताई करते थे, पर मेरे पिता का व्यापार सबसे ज़्यादा था। उन्हें आसपास के गांवों में भी बुलाया जाता। वे हमेशा दूसरों के लिए पूजन करते रहे। भगवान से सदा दूसरों की खैर मनाते रहे। वह मनाना ज़रूरी था। उनसे पैसे जो मिलते थे। पैसों की गिनती में आप मत जाइए, वह तो दान है। सवा पैसा भी हो सकता है। और सवा रुपया भी। पंडितजी का काम तो पूरे विधान से पूजा कराना है।

मेरे पिताजी कट्टर धार्मिक व्यक्ति थे। पूजा-पाठ के विधान को भली-भांति जानते थे। उनका कहना था कि यदि पंडित पूरी विधि-विधान से पूजा न कराए तो उसी पर पाप गिरता है। उन्होंने बताया था कि जब रामचन्द्रजी अपनी सेना सहित लंका जा रहे थे तो भारत के अंतिम किनारे पर उन्हें पूजन करना था। यहां समुद्र है और कोई बहुत बड़ा मंदिर है। राम जाति के क्षत्रिय थे।

इतने बड़े सम्राट् की पूजा कोई ऐरा-गैरा पंडित थोड़े करा सकता था। तय हुआ कि जो कर्मकाण्ड का सबसे बड़ा ज्ञाता हो, वही पूजा कराए। बहुत खोज के बाद पता चला कि रावण से बड़ा पंडित दुनिया में नहीं है। इसी रावण से लड़ने राम जा रहे थे। उसने उनकी पत्नी का हरण कर लिया था। पर बिना पूजन किए समुद्र पार करना कैसे सम्भव है? आखिर रावण को एक पंडित के रूप में पूजा कराने के लिए आमंत्रित किया गया। यह उसका धर्म था। उसने धर्म का पालन किया। पिताजी ने बताया था कि पूजा में विधान है कि विवाहित पुरुषों को अपनी पत्नी के साथ बैठकर ही सारे कर्म करने चाहिए। दोनों समान रूप से भागी होते हैं। सीता तो वहां थी नहीं। तब?—रावण के सामने भी यह विकट प्रश्न था। वह भी विधान नहीं तोड़ना चाहता था। अंत में अपने एक सैनिक को भेजकर उसने अशोक वन से सीता को बुला भेजा और तब राम के साथ गांठ जोड़ कर उसने पूरे विधान से पूजा कराई।

पूजा हो गई। उसके बाद ही उसने अपनी तलवार से दोनों की गांठ तोड़ दी और सीता को अपने कंधे पर बैठाकर लंका वापस ले गया। राम यह देखते रहे। रावण उस समय उनका पंडित था। पिताजी कहते थे, रावण जैसे महान पंडित ने भी परम्परा नहीं तोड़ी। उसका आदर्श उनके सामने रहा है। उसका उन्होंने बराबर पालन किया, परन्तु उसका फल उन्हें क्या मिलता था? कुछ पैसों के सिवाय चार-छः पान के पत्ते, नवग्रह की नौ हल्दी की गांठें, एक जोड़ा जनेऊ और थोड़ा प्रसाद। सुपारी महंगी थी, इसलिए नौ सुपारियों की जगह लोग एक पैसा चढ़ा देते थे। नारियल की जगह केले का फल काफी है। पुंगीफल तो दोनों हैं। शायद ही कभी किसी ने कोरा कपड़ा चढ़ाया हो। चढ़ाया तो वह भी एक रुपये मीटर का लट्ठा। पूजा में दो घंटे से कम न लगते और कमाई कुल मिलाकर दस-बारह आने होती। यह औसत कमाई बता रही हूं। यह सीमा घटी और बढ़ी भी है। हां, उस दिन पिताजी को 'सीधा' ज़रूर मिल जाता था और वह उनके लिए काफी होता था। बाहर वे खाते नहीं थे। कहीं खाना पड़े तो खुद हाथ से खाना पकाते।

फल यह हुआ कि पंडिताई तो खूब चली पर घर में लक्ष्मी की अकृपा हमेशा बनी रही। वह कभी प्रसन्न नहीं हुई। होती भी कैसे? पिताजी उसे तो दूसरों के लिए मनाते थे। वे कहते थे—"हे लक्ष्मी, फलां की झोली भर दे!" लक्ष्मी उनकी

अपनी झोली कैसे भरती ? गरीब के साथ दुर्भाग्य भी कम पीछा नहीं करता। मेरी पांच बहनें थीं। भाई एक; सबसे छोटा था। सबसे बड़ी बहन पच्चीस की थी। बाकी बहनों में एक-डेढ़ साल का अन्तर था। सबकी सब क्वांरी थीं।

पिताजी उनका ब्याह नहीं करना चाहते थे, सो बात नहीं। बड़ी बहन जब बारह की हुई, तभी से पिताजी की नींद उसने छीन ली थी। पिताजी ने बहुत हाथ-पैर फैलाए पर बिना पैसे के कोई अपनाने को तैयार नहीं हुआ। मैं खुद कैसे कहूं कि हम पांचों बहनें सोने जैसी सुन्दर थीं। यह तो मैं उनकी बात कहती हूं, जो मेरी बहनों को देखने आते थे। कहते—"लड़की लाखों में एक है, पर पंडितजी दहेज क्या मिलेगा ?"

इसका उत्तर पिताजी के पास नहीं था। मैं जानती हूं, जब कोई लड़की देखने आता था, तभी हमें कितनी मुसीबत उठानी होती थी। उसके स्वागत की तैयारी हम किस तरह करते थे, यह बात बताने की नहीं है। देखनेवाले कम नहीं थे। रोज कोई-न कोई आता। मेरी बहनें बड़े-बड़े सपने बनातीं और मैं अपनी आंखों के सामने उनके सपनों को मिट्टी में मिलते देखती। तब वे खूब रोतीं। उनके रोने से मां को दर्द होता, पर मुझे आनन्द आता था। मैं उपहास करती थी। उन्हें चिढ़ाती थी, खूब चिढ़ाती। इतना कि रोनेवाली बहनें हंसने लगती थीं।

हममें से पढ़ी कोई थी नहीं। मैंने ही अपने गांव के स्कूल में थोड़ा पढ़ा था। सबसे छोटी थी और इसलिए मेरे ऊपर बारह हाथ थे। चार बहनों के आठ और मां-बाप के चार। सबसे ज़्यादा प्यार मैंने ही पाया। बाकी बहनों ने तो दुतकार ही पाई। मुझसे ज़्यादा प्यार हमारे सबसे छोटे भाई का होता था। वह अचानक कभी रो देता तो सारे घर की दीवालों में कांटे चुभ जाते थे। उसे कभी रोने नहीं दिया गया। इस तरह यह बड़ा परिवार चलता रहा। जो मिलता था, भगवान का परसाद समझकर हम सब खा लेते थे। पर बहनों की शादी एक बड़ी उलझन थी। गांव की लड़कियां बारह-पन्द्रह साल में ही व्याह दी जाती थीं। मुझे याद है, मेरी बड़ी बहन पचीस की थी और मैं पन्द्रह की। मुझसे छोटी उमर की लड़कियां भी व्याही जा चुकी थीं। उनके दूल्हे उन्हें डोलियों में बैठा-कर अपने देश ले गए थे। हम पांच बहनें ही किसी कहार की कृपा न पा सकीं। इससे सारा गांव हम पर आंखें उठाता। और तो और, बूढ़ा लाला भी मेरी बड़ी बहन को घूरता था। चार बरस पहले उसकी औरत चेचक में चल बसी थी।

उसकी बड़ी लड़की मेरी बड़ी बहन से एक दिन पहले पैदा हुई थी। लाला की आंखें तब भी मेरी बहन पर थीं। पिताजी से तो वह कुछ कह न पाता था, वह जानता था, पिताजी कट्टर सनातनी हैं, पर मुझसे ज़रूर कहता था। जहां मिल जाता, मेरे सिर पर हाथ फेरता। कहता—"बेटी, बड़ी बिटिया को समझा! जवानी के सुनहरे दिन क्यों रो-रोकर बिता रही है। अपने घर में भगवान का दिया हुआ क्या नहीं है! और रही जात-पांत की बात, सो उसे छोड़ो। इन सुनहरे दिनों को जलाने से जात छोड़ना क्या बुरा है!"

वही लाला पंचायत में कट्टर जातवाला बन जाता था। गांव के ऐसे कई लोग थे जो गिरगिट की तरह दिन और रात में बदलते रहते थे। छोकरे मुझ पर नज़र लगाए थे। बूढ़े पिताजी को खोदते थे। बूढ़ियां मां को कोसती थीं। गोया, हम पांच बहनें उस पूरे गांव की छाती में कांटे की तरह चुभ रही थीं। पिताजी ने सैकड़ों बाम्हनों के पैर पकड़े। अपढ़ लड़कों को भी अपना बामाद गनाना मंजूर किया। किसी काने जवान को भी अपनाना चाहा, पर पैसों ने वह लक्ष्मण-रेखा कभी पार नहीं होने दी।

आखिर मेरी बहनें यह सब कब तक सुनतीं? एक रात मेरी बड़ी बहन मालगुज़ार के कुएं में समा गई। फिर सुबह गांव-भर ने बड़ी धूमधाम से उसकी शादी की, यानी बड़े समारोह से उसकी अरथी निकाली गई। दूसरी बहन शहर के एक पंजाबी के साथ भाग गई। वह बाज़ार में मिल गया था। उनमें सौदा कैसे पटा, पता नहीं। आज तक उसका पता नहीं चला। चलाए कौन? सिर का भार जितना कम हो अच्छा है। तीसरी बहन ने आजीवन क्वांरी रहने का व्रत धारण कर लिया। वह शहर में अपने मामा के यहां चली गई। वहां कुछ पढ़-लिखकर अस्पताल में नर्स हो गई। सुना है, वह अब भी नर्स है और अब भी कुमारी है। वह काफी मज़े में है। चौथी बहन मां के पास ही रही। जब मैंने गांव छोड़ा था, वह गांव में ही थी।

मेरा अपना किस्सा यह है—मुझे बरगी का एक पंडित व्याह ले गया था। जब उसका ब्याह हुआ तब वह साठ बरस का था। उसके घर में काफी जायदाद थी। उसने पिताजी को कुछ रुपये भी दिए थे। दूसरे हमसे रुपये मांगने आते थे; उसने हमें रुपये दिए। मैं अपनी बहनों की दुर्दशा देख चुकी थी, इसलिए मैंने कोई विरोध न किया। शादी-ब्याह तो भाग्य के लेख हैं। उन्हें कौन मेट सकता है। मैं

हंसी-खुशी अपने बूढ़े पति के साथ बरगी चली गई।

उसका घर भरा-पूरा था। उसकी भी तीन लड़कियां थीं। दो ब्याह गई थीं, तीसरी मुझसे दो बरस बड़ी थी। यह भी ब्याह की कोई उमर है! परन्तु नये घर में जाकर मैं खुश थी। मेरा पति दिन-रात खांसता था। उसे दमे की शिकायत थी। मेरे लिए यही क्या कम था कि जहां मेरी सारी बहनें क्वांरी रह गई, वहां मेरे शरीर पर तेल चढ़ गया। मेरी मांग में सौभाग्य-सिंदूर जगमगाने लगा और पैरों की अंगुलियां बिछुओं से भर गई। नाइन रोज आती थी। वह पैरों में महावर दे जाती थी और एड़ी भर जाती थी। मैं अपने को आईने के सामने देखती तो देखती रह जाती। मुझसे भाग्यशाली और कौन हो सकता है। मैं आज भी शहनाई के स्वरों को नहीं भूल पाती। कहारों का गीत आज भी बरबस याद आ जाता है :

> ऐसो री सुहाग मैंने घोर-घोर गालो।
> सो घोर-घोर गालो, माहुर मेंदी में खूब लागो।

कितनी मिठास थी उसमें! सखियों के उपालम्भ, गांव की बूढ़ी मां-बहनों का प्यार; किसी ने कभी यह नहीं कहा कि बूढ़े से एक जवान बांधी गई है। बुढ़ियों की मैं हमजोली बन गई। जवानों के लिए काकी, दादी और चाची थी। बूढ़े की पत्नी, बुढ़िया न होगी तो क्या? पर इस बुढ़ापे में मैंने जीवन देखा। रात-रात-भर अपने खांसते-खखारते पति की बड़ी लगन से मैंने सेवा की।

ब्याह के तीन महीने के बाद वे एकाएक बीमार पड़ गए। बड़े-बड़े डाक्टर आए। खूब दवा-दारू हुई, पर मेरे बूढ़े सुहाग को कोई न बचा सका। तीन महीने जागकर वह फिर सो गया। पुराने सिक्कों की तरह उसके शब्द खो गए। मेरा प्यार सो गया। तीन महीने के लिए सुहागिन बनी; जिन्दगी-भर का वैधव्य पाया। इन्द्रधनुष निकला था, बादल छंटे, तो वह बादलों में फिर समा गया।

पिताजी ने खबर सुनी तो दौड़े आए। मुझे ढांढ़स बंधाया और मेरे आंसू पोंछे। बोले—"भाग्य पर किसका जोर है, शीला! धीरज धरो! भगवान का दिया तुम्हारे घर में सबकुछ है। बराबरी की बेटी है, बेटा है, और क्या चाहिए?"

मैंने आंसू पोंछे। पिताजी ठीक कहते हैं। मुझे और चाहिए ही क्या! एक लड़की पत्नी बनने के लिए सपने देखती है। मां बनने के बाद जैसे उसे पा लेती

है। मैं पत्नी भी बनी और मां भी; एक नहीं अनेक बच्चों की। मेरी बच्चियां तो अब ब्याह भी गई हैं। मेरे नाती हैं, नातिनें हैं। इससे बड़ा और कौन सुख हो सकता है। बूढ़ा पति चला गया, तो जैसे घर साथ ले गया। उसका अभाव मुझे खलता रहा। क्यों खलता था, नहीं जानती। मेरे लिए वह पिता से कम नहीं था। दुनिया के सामने वह मेरा पति था। जब कभी वह प्यार में आ जाता, मुझे अपनी बाहुओं में समेटकर गोद में सुला देता। फिर मुझे पुराने किस्से सुनाता। किसी बाबा ने उसे एक जड़ी दी, एक बार उसे खाकर उसकी सारी शिराएं तन गई थीं। लेकिन, उसी ने बताया कि उसके बाद उसका पुरुषत्व न न जाने कहां खो गया। इसके बाद वह अपनी दोनों हथेलियों से मेरे गाल पकड़ता और उन्हें देखकर कहता—"बीस बरस पहले न मिली तू, आह!" यह उसके प्यार की चरम सीमा थी। वह सीमा भी नियति ने तोड़ दी अब...।

सायं-सायं करती रात और सावन का महीना। तीन दिन से झड़ी लगी थी। अंधाधुंध झड़ी। मेंह एक बार बरसना शुरू हुआ तो बन्द होने का नाम नहीं। मेंह ने सावन के झूले बन्द कर दिए थे, पर वह सावन के गीत नहीं रोक पाया था:

अरे रामा उठी घटा घनघोर
बदरिया कारी रे हारी।

मैंने भी बचपन में ये गीत गाए हैं। खूब गाए हैं। इन गीतों में जीवन देखा है। सखियों के ताने सहे है। उन तानों की मिठास का अनुभव कर आज भी मन मीठा हो जाता है। यही गीत तो जीवन हैं। इनमें ही जीवन का रस है। यदि ये न होते तो आज न जाने आदमी की ज़िन्दगी कैसी होती? मृत्यु न होती तो जीवन के रूप की कल्पना आज असम्भव है। इसी तरह यदि ये गीत न होते, तो जीवन का रस क्या होता, कौन जानता है? उस दिन सावन के गीत मुझसे गाए नहीं गए। वे होते तो गाती भी, अब किसके लिए गाती। मैं रामायण लेकर बैठ गई। उत्तरकाण्ड निकालकर पढ़ने लगेगी:

सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर।
होहिं विषय रत मन्द मन्दतर॥
कांच किरिच बदले जिमि लेहीं।
करतें डारि परसमनि देहीं॥

यह चौपाई मैं बार-बार पढ़ती। अब हरि-भजन के सिवाय चारा ही क्या था ? ऐसे क्षणों में हरि की कल्पना बुरी नहीं है। मीरा ने कृष्ण की कल्पना में ही जीवन का सत्व पाया था। उसी में डूबकर वह कृष्ण की राधा बनी और राम की सीता। मेरा मन इस चौपाई में खूब रमा। तभी आहट हुई। मैंने रामायण बन्द कर दी। यह क्या ! किसी के कूदने की आवाज़ थी। बाहर आंगन में 'छप्प' की ध्वनि हुई। वह कुछ देर रुकी और फिर हुई। मेरी बेटी बाजू के कमरे में सो रही थी। नौकर-चाकर बाहर थे। मन हुआ आवाज़ करूं, पर आवाज रुक गई थी। मेरा मन घबरा गया। वह ज़ोर से धधकने लगा। कोई चोर तो नहीं घुसा ! मैंने उठकर रामायण पूजा की अलमारी में रख दी। बाजू के कमरे में जाने को तैयार हुई और पूजा की कोठरी की सांकल लगाने लगी, तभी पीछे से किसी ने मेरा मुंह बन्द कर दिया। उसने मेरे मुंह में कपड़ा ठूंस दिया था। मैंने घबराई आंखों से देखा। एक नकाबपोश आदमी था। उसके साथ शायद कुछ और थे। मैंने सोचा, ये चोरी करने आए हैं। मैंने चाबी की ओर इशारा किया, पर आज वे शायद लक्ष्मी लूटना नहीं चाहते थे। उन्होंने एक शीशी निकाली और मुझे कुछ सुंघा दिया। मैं अचेत हो गई।

फिर मुझे पता नहीं, क्या हुआ। जब मूर्च्छा टूटी तो मैंने अपने-आपको एक कमरे में देखा। चारों ओर से स्त्रियां मुझे घेरे खड़ी थीं। एक अधेड़ औरत मेरे सिरहाने थी। वह पंखा झल रही थी। कह रही थी—"तुझे सलीम लाया है ! उसका एहसान मान !"

उसने सलीम को बुलाया। बड़ी भद्दी शक्ल का एक आदमी मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। मैं डर गई। स्त्रियां जा चुकी थीं और सलीम मेरे बाजू में आ गया। उसने मेरी नाक की लौंग उतार दी और उसमें सोने की एक नथ पहना दी। उसने मेरी आंखें पोंछीं और मेरे गाल खूब चूमे। बोला—"स्वर्ग में आ गई है ! मौज उड़ा···। इस घर में सब कुछ है, सब कुछ तेरा है। पर घर के बाहर जाने का कभी मन न करना। खिड़कियों से झांकना मना है। वरना···।"

उसने सामने टंगे कोड़े की ओर अंगुली दिखाई। मैं भय से कांप गई। मेरे मुंह से कोई शब्द न निकला और फटी-फटी आंखों से मैं उसे देखती रही।

कितनी मजबूरी थी ! मेरा बूढ़ा पति ही होता तो कुछ ज़रूर करता। वैसे

मेरे पिता ने मेरी खोज करने में कमी न की होगी, परन्तु···!

यह घर भी धीरे-धीरे में पहचान गई। उस्ताद बशीर खां और रशीदाबाई ने मुझे गाना और नाचना सिखाया। मैंने कई बार चाहा कि यहां से भाग जाऊं, पर भाग न पाई। चारों ओर पहरा था। मैं दिन-भर पैरों में घुंघरू बांधकर नाचा करती थी। यहां कई किस्म के लोग आते थे। उन सबके सामने नाचती थी, पर नाचकर ही मेरा काम पूरा हो जाता था। उसके बाद वे रशीदा और ज़ेबुन्निसा के कमरे में चले जाते थे। ज़ेबुन्निसा मेरी तरह ही है, मुझसे कुछ बड़ी होगी। दो बरस पहले आई थी। अब बिलकुल उनमें समा गई है। मैं विरोध में कुछ बात करती हूं तो वह दांत पीसने लगती है। कहती है—"भेड़िये कहां नहीं हैं, शीला। जंगल के खुले भेड़ियों से ये पालतू भेड़िये क्या खराब हैं?"

उसकी बात ठीक है, यह मैं जानती हूं, पर मेरा मन यहां नहीं लग पाया। न जाने क्यों? सबने मार-पीटकर मुझे वेश्या बना दिया और न चाहते हुए भी मुझे सब कुछ करना पड़ा। अपने संस्कारों को मैं जितना पकड़ना चाहती, वे उतने ही छूटने लगे।

एक दिन ठाकुर निरंजनसिंह आया। वह भी एक ग्राहक था। उसे पाकर पहले मुझे घृणा हुई थी। मुझे यह पता था कि उसने पांच सौ रुपये देकर मेरा मोल-तोल किया है। जो आदमी इतना पैसा खर्च करेगा, वह मेरे साथ कैसा सलूक करेगा! मन हुआ, मैं भी किसी कुएं में जाकर समा जाऊं या गले में फन्दा लगा लूं। कभी मन होता कि किसी बहाने रात में यहां से भाग निकलूं, पर तभी मन कचोट उठता। भागकर मैं जाऊंगी कहां? घर से भागी बहू-बेटी को कब किसने अपनाया है। शोभा का किस्सा मेरे सामने का है। वह भाग गई थी। कैसे भागी, नहीं जानती। एक महीना बाहर रही। जब लौटकर आई तो घर के दरवाज़े उसके लिए बन्द हो गए थे। उसने बहुत कुछ कहा, पर न मां मानी और न बाप। भाई तो उसकी शक्ल भी नहीं देखना चाहता था। उसके सामने अब दो रास्ते थे—या तो परजात में चली जाए अथवा ज़िन्दगी का अन्त कर ले। जीवन का अन्त करना हर एक के वश की बात नहीं है। उसके लिए साहस की ज़रूरत होती है। शोभा में शायद वह साहस था ही नहीं। घर छोड़कर वह इतने बड़े खुले आकाश में फिर आ गई। कुछ दिन भटकती रही और अन्त में

उसने ईसाई धर्म कबूल कर लिया। सुना है, वह खूब पढ़-लिख गई है। काफी मज़े में है। अब उसका परिवार है। इतनी सुखी शायद वह अपने घर में नहीं थी। मैं यदि यहां से भागती हूं तो मुझे भी धर्म बदलना होगा, जात बदलनी होगी। तो यही धर्म क्या बुरा है, यही जात क्या बुरी है ! इसमें आत्मसात् करने की कितनी बड़ी ताकत है।

हम हिन्दू हैं। गंगा को पवित्र मानते हैं। गंगा अपने भीतर सब कुछ समा लेती है। पर हम कुछ भी समेटने को तैयार नहीं। इस घुटन में कितना कीचड़ हमारे भीतर जम गया है, हम देख नहीं पाते। मैं आज भी हिन्दू हूं, पर हिन्दुत्व पर मुझे गर्व नहीं है। मैं जानती हूं, यह धर्म कमज़ोर और डरपोक है। वह अपने-आपसे डरता है। हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों में बड़ी-बड़ी बातें लिखी हैं। वहां महा-भारत, गीता और रामायण जैसे ग्रन्थ हैं। कहते हैं, इनमें ऐसे तत्व हैं जो दूसरी जातिवालों ने भी स्वीकार किए हैं। मैंने ये सब ग्रन्थ पढ़े नहीं, इसलिए जानती नहीं। हो सकता है, यह बात सच हो। पर यह भी सच है कि हम खुद अपने धर्म-ग्रन्थों को नहीं पहचान पाए हैं। हम धर्म से भाग रहे हैं और फिर हर बात पर धर्म की दुहाई देते हैं। वह धर्म कैसा जो लिखा एक तरह से गया हो और माना दूसरी तरह से जाता हो। जिस आदमी की करनी और कथनी में भेद होता है, वह दोगला कहा जाता है। जिस धर्म में ऐसा भेद हो, वह ? ···शायद इसलिए आज न मेरे मन में इस धर्म के प्रति आस्था है और न मैं हिन्दू कहलाने में अपने में गौरव महसूस करती हूं। अच्छा हो, दुनिया से धर्म का भेद ही उठ जाए। सब एक धर्म के हों, या किसी का कोई धर्म न हो। धर्म वही है, जो धारण करने योग्य हो। आदमी सुविधा से कुछ भी कर सकता है। मैं जानती हूं, एक दिन ऐसा धर्म ज़रूर आएगा, जिसका कोई धर्म नहीं होगा। यदि अपने-आप वह न आया तो कोई ऐसा पैदा होगा, जो उसे लेकर आएगा। मैं सोचती हूं, वह राम, ईसा, बुद्ध और मुहम्मद—इन चारों के खून से बना होगा। फिर भी वह इनमें से कोई नहीं होगा। वह जो होगा वही रहेगा, लेकिन शायद तब तक मैं नहीं रहूंगी।

यह तो आगे की बात है। आज तो बात ही दूसरी है, इसलिए मैं चाहकर भी यहां से न भाग सकी। मैंने इस नये घर को स्वीकार करना ठीक समझा। भाग्य यह भी कराना चाहता है, क्यों न कर लिया जाए ! मन को मैंने भरपूर

ढांढ़स बंधाया, खूब समझाया। शरीर को पत्थर बनाया और तब निरंजन को मैंने वह समर्पित किया। निरंजन एक अजीब आदमी निकला। जो मैं सोचती थी, वह गलत हुआ। उसने पहली ही रात को, या यों कहूं कि पहले ही क्षण में, मेरे तन-मन को हिला दिया। मुझे लगा, किसी गहरी अंधेरी रात में वह जुगनू की तरह आया है। उसने अंधेरे कमरे में एक दीपक जला दिया। उस दीप की जोत आज भी जल रही है। उसी ने मेरा नाम भी बदला और मेरे प्रतीक नाम को दूसरा अर्थ दिया।

अब मैं निरंजन का इन्तज़ार बेसब्री से करने लगी थी। सूरज मुझे काटता था। जिस अंधेरी रात से सब दूर भागते हैं, मैं उसी के लिए व्याकुल रहने लगी। रात होगी और वह आएगा। मुझे अपने पास लेकर बैठेगा। स्वप्नलोक के अनगिनत रहस्य वह मेरे सामने खोलेगा। वह बराबर आता रहा और मेरे सपने सजाता रहा। एक दिन वह बोला—"मंजरी, मेरे साथ तुम ज़्यादा दिन नहीं रह पाओगी।"

मैंने पूछा—"क्यों? क्या तुम विवाहित हो?"

—"हां, विवाहित तो हूं। लेकिन यह बड़ी बात नहीं है।"

मुझे पल-भर को उससे घृणा हुई। बोली—"तुम विवाहित हो और फिर भी ऐसे घरों में आते हो?"

उसके चेहरे की ओर मैंने देखा। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। वह हंसा और बोला—"हां, मंजरी! तुमसे भी मैं पूछना चाहता हूं—तुम युवा हो, सुन्दर हो, सभ्य और कुलीन दिखाई देती हो, ऐसे कमरों में रहनेवाली औरतों से भिन्न हो, फिर ऐसे काम क्यों करती हो? तुम्हारी भी तो कोई विवशता होगी।"

मैं चुप रही। मेरी आंखें भर आईं। उसने मुझे देखा। मेरे आंसू पोंछे और मुझे गले से लगा लिया। बोला—"इसका उत्तर तुम नहीं दे सकतीं। आदमी ऐसे कई काम विवशता में करता है, वह विवश होकर करता है। मैं भी अपनी किन्हीं विवशताओं से बंधा होऊंगा।"

मुझे संतोष हुआ। मैंने निरंजन से आगे कुछ नहीं पूछा। वह बोला—"मैंने तुम्हें अपनाया है। तुम पर मेरा अधिकार है। पर उस अधिकार की भी एक सीमा है, मंजरी। थोड़े दिनों के बाद···!"

निरंजन चुप हो गया। मैंने चिंता से पूछा—"थोड़े दिनों के बाद क्या?"

उसने लम्बी सांस ली और अजीब नज़रों से मुझे देखा। मेरे माथे से उसकी नज़र धीरे-धीरे मेरे पैरों तक उतरी। न जाने वह क्या देख रहा था। बोला—"तुम नहीं जानतीं, मंजरी। यह वेश्याओं का घर है। तुम अब वेश्या हो। तुम्हारा यह शरीर अब तुम्हारे लिए नहीं है। तुम खुद नहीं जान सकतीं कि इसका मालिक कौन है। वह अब पैसेवालों का हो गया है। जो पैसा देगा, वही मालिक होगा—वह चाहे कोई भी हो। इन घरों में इसी बात में हो तो एका है। पैसे की धुरी यहां सबको जोड़ देती है। सब भेद-भाव पैसा मिटा देता है। यहां न जात-पांत है, न कोई छोटा-बड़ा है; न कोई बालक है; न कोई बूढ़ा है।"

मैं कांप उठी। सचमुच मेरा मन थर्रा उठा। यह तो मैं जानती नहीं थी। यहां आए थोड़े दिन हुए हैं। सुना बहुत था, पर सुनी बात पर भरोसा करने की आदत कम है। पर अब क्या होगा? क्या इसका कोई इलाज नहीं? क्या निरंजन मुझसे छूट जाएगा? क्या मुझे अनचाहे हर किसी को अपना शरीर समर्पित करना होगा? एक साथ अनेक प्रश्न मेरे सामने घूम गए।

मैं उसकी गोद में थी। उसके गुलाबी हाथ मेरे शरीर पर थे। मेरी देह गरम थी, पर अब उसमें जैसे दीमक लग गई थी। दर्द से मैं कराह उठी। मैंने उसके गले में हाथ डाल दिए। बड़े प्यार से मैंने कहा—"यह मैं नहीं सह सकूंगी, निरंजन! मुझे यहां से बचा लो। मेरी बात मानो, तुम मुझे प्यार करते हो?"

उसने सिर हिलाकर हामी भरी। मैंने कहा—"तो तुम जहर की एक पुडिया मुझे लाकर दे दो। तुम्हारी कसम खाती हूं, किसी को कभी पता न लगेगा, वह पुड़िया तुमने दी थी।"

उसने एकाएक मुझे अपने में और समेट लिया। बड़ी देर तक मैं गुमसुम उसके शरीर के साथ चिपटी रही और उसके गर्म रक्त का सुख लेती रही।

फिर निरंजन ने मुझे छोड़ दिया। बोला—"रात अंधेरा लाती है इसलिए सांझ की सुन्दरता तो कम नहीं होती, मंजरी। यह देह मुश्किल से मिलती है। मरने की कल्पना करना मूर्खों का काम है। मरें वे जिनमें आत्मबल न हो, जिनका मनोबल नष्ट हो गया हो, जो कायर हों, जो पुरुषार्थ से दूर भागते हों। जो कोरा भाग्य लिए सुनहरे सपने बनाते हों, अकर्मण्यों के लिए मौत अभीष्ट है। काम करनेवालों को तो जीवन चाहिए, मंजरी, जीवन! जितना ज़्यादा जीवन

मिले उतना अच्छा। मैंने तुम्हें अपना बनाया है। इस महासागर में मैंने तुम्हारा हाथ पकड़ा है, तुम्हें पार लगाने की ज़िम्मेदारी अब मुझपर है। तुम्हें समय और समझौते की प्रतीक्षा करनी होगी।"

निरंजन की बातों से मुझे बहुत उत्साह मिला। उसके प्रति मेरे मन में गहरी श्रद्धा जागी। वह आदमी नहीं है, यदि देवता होते हैं, तो वह वही है। निरंजन खड़ा हो गया था। अब वह जा रहा था। बोला—"घर में बच्चे की तबीयत खराब है, उसे भी देख लूं।"

सुनकर मैं फिर सोचने लगी, वह विवाहित है, उसके बच्चे हैं, तब? मैंने अपनी दयनीय आंखों से उसे निहारा। वह शायद मेरा मर्म समझ गया था। बोला—"हां मजरी, मैं चार बच्चों का बाप हूं। पर अब मेरी एक नहीं, दो पत्नियां हैं, एक वह और दूसरी तुम। राजा-महाराजाओं ने तो दर्जनों पत्नियां रखी हैं। उन्होंने दर्जनों हरम सजाए हैं। क्या मैं दो नहीं सजा सकता?"

दरवाज़े तक जाने के बाद वह लौटा। बोला—"मैं तुम्हें कल बताऊंगा।"

वह चला गया। मैं कमरे में अकेली रह गई। तभी रशीदा आ गई। वह हांफ रही थी। शायद अभी तक वह नाच रही थी। मुझसे बोली—"तैयार हो जाओ! घुंघरू पहनकर बाहर आओ!"

मैंने कहा—"अब तो बारह बज गए हैं।" उसने ज़ोर से डांटा। बोली—"बजने दो!" एक कड़वी नज़र से उसने मुझे देखा और बाहर चली गई। मुझे उसका हुक्म बजाना पड़ा। उठकर मैंने कुर्ता और सलवार पहनी। घुंघरू बांधने लगी, इतने में ज़ेबुन्निसा मेरे पास आई। उसे देखकर मुझे गुस्सा आ गया, वह अब कुछ कहेगी, कुछ डांट पिलाएगी। मैंने ज़ोर से पूछा—"अब तुम्हें क्या कहना है?"

ज़ेबुन्निसा मुझसे लिपट गई, बोली—"बहन, कुछ कहने नहीं आई। तुमसे सहायता मांगने आई हूं।" मेरा धीरज बंधा। मैंने पूछा—"कहो, भला मैं क्या कर सकती हूं?"

वह बोली—"आज सवेरे से मेरा सिर चढ़ा है, मंजरी।"

मैंने उसका सिर छुआ, वह गरम था। उसकी देह जल रही थी।

मैंने कहा—"अरे, तुम्हें तो बुखार है!"

"हां, पर यहां छुट्टी नहीं है। अब तक चार ग्राहक आ चुके हैं। एक कोई

सरदार आया है। सुना है, बहुत पैसे वाला है। उसी के सामने तुम्हें नाचने को बुलाया है। तुम तो नाचकर छुट्टी पा जाओगी पर मैं…!"

मैंने जेबुन्निसा को देखा। उसकी आंखें लाल थीं और जल रही थीं। वह बड़ी कातर थी। उसके पैर कांप रहे थे। मैंने कहा—"तुम बता क्यों नहीं देतीं?" वह रोने लगी। बोली—"बताने से क्या होगा, उन्हें तो पैसे चाहिए। ग्राहक भले दया कर लें, उनमें दया नहीं है। ज़रा-सी नाहीं की कि कोड़ा पीठ पर आ पड़ा। मेरी हिम्मत नहीं होती।"

मैंने उसका हाथ पकड़ा। बोली—"चल, मैं कहे देती हूं।" ज़ेबुन्निसा ने मेरा हाथ छुड़ा लिया। मेरे दोनों कन्धे पकड़ लिए। बोली—"अभी अनजान हो। रेत से तेल निकालना चाहती हो। इस समय तुम्हीं मेरी सहायता कर सकती हो।"

मैंने पूछा—"वह किस तरह?"

वह बोली—"नाचने के बाद तुम्हीं सरदार का हाथ पकड़कर उसे अपने साथ ले जाना।"

मैं चौंक गई—"यह क्या? यह मुझसे नहीं होगा?"

ज़ेबुन्निसा मुझसे लिपट गई और सिसकने लगी। तभी रशीदा ने अपनी कर्कश आवाज़ में बुलाया—"आती क्यों नहीं? देर क्या हो रही है?"

ज़ेबुन्निसा ने कांपती आवाज़ में उत्तर दिया—"आती हूं बीबीजी?"

उसने एक बार मुझे देखा और बाहर निकल आई। ज़ेबुन्निसा की जलती देह और आग जैसे दहकते नेत्र मेरी आंखों के सामने आ गए। उसके प्रति हमदर्दी मेरे मन में जागी। घुंघरुओं को बांधकर मैं बाहर आ गई। आकर देखा वहां बहुत से लोग बैठे थे। सरदार ने मुझे देखा तो दस रुपये का एक नोट मेरी ओर फेंका। रशीदा ने उसे उठाकर चूम लिया। अपने दोनों हाथों से उसने मेरी बलैया लीं। तबलची ने तबले पर थाप दी, हारमोनियम बजा और मेरे पैर फड़कने लगे। मैं छमछमा उठी। नाचते-नाचते मैंने देखा, ज़ेबुन्निसा का पूरा शरीर कांपने लगा है। यह मुझसे न देखा गया। मैंने उसे इशारा कर दिया, वह समझ गई और भीतर चली गई।

काफी देर मैं नाचती रही। सरदार मुझ पर नोट फेंकता रहा और सलीम शराब ढालता रहा। नाच खतम हुआ तो मैंने सरदार के हाथ पकड़े और खींच-

कर उसे अपने कमरे की ओर ले जाने लगी, तभी एक नौकर ने आकर खबर दी—"पुलिस आ रही है।"

रशीदा ने कहा—"तो क्या हुआ, आने दो।" पर सरदार के पैर अड़ गए थे। वह बोला, "कहां है ?"

"नीचे है। बस ऊपर आने को है।"

सरदार के पैर कांपने लगे। बोला—"रशीदाबाई, कोई दूसरा दरवाज़ा है ?"

रशीदा ने पूछा—"क्यों ?"

वह उसी तरह घबराए हुए स्वर में बोला—"वैसे ही।"

"कुछ तो होगा ?" रशीदा के स्वर अब ज़्यादा कर्कश हो गए थे। सरदार ने दस रुपयों के दस नोट रशीदा की ओर बढ़ाए। बोला—"तुम्हारा एहसान नहीं भूलूंगा, मुझे बाहर निकाल दो।"

रशीदा ने नोट हंसते हुए रख लिए। सलीम को उसने इशारा किया। वह पीछे के दरवाज़े से सरदार को ले गया और इस तरह मुझे छुट्टी मिली। रशीदा ने मेरे दोनों गाल चूम लिए। बोली—"भागवान है। जबसे आई है लक्ष्मी बरस रही है, और मुफ्त में।"

बाद में हमें पता लगा कि वह सरदार एक डाकू था। रात को अपना मन बहलाने यहां आया था। पुलिस को यह पता लग गया था। पुलिस ऊपर आई और सारा घर तलाशकर लौट गई। मुझे लगा कि बता दूं, पर मन रुक गया। बताने से क्या होगा। एक तो वह अब तक भाग चुका होगा, दूसरे, हम क्या कम लूटते हैं ? वह तो अपनी ताकत के बल पर धन लूटता है, हम आदमी को कम-ज़ोर बनाकर उसका तन-मन-धन सब लूट लेते हैं। हम लुटेरों को भी शरण देते हैं। उनकी रक्षा करते हैं, सिर्फ इसलिए कि हमें पैसे मिलते हैं। वे भी तो पैसे के लिए ही डाका डालते हैं। तब हममें और उनमें अन्तर ही क्या है ? बल्कि हम उनसे भी ज़्यादा अहित करते हैं। हम लोगों को खटमल की तरह निरंतर चूसते रहते हैं।

दूसरे दिन फिर निरंजन आया। आज वह अपने साथ बनारसी पान का एक बीड़ा लाया था। आते ही उसने वह बीड़ा मेरे मुंह में ठूंस दिया और मुझे प्यार से गले लगाया। मैंने पूछा—"बच्चा कैसा है ?"

उसने बताया—"अब बिलकुल ठीक है।" मुझे शांति मिली। मैंने उसे कल

की सारी घटना सुना दी। सुनकर उसने कुछ कहा नहीं। कहता भी क्या ? मैंने पूछा—"मेरी मुक्ति का रास्ता सोचा ?"

"हां," उसने कहा—"मैंने पुलिस के अफसरों से बात की है, पर बड़ा अफसर बाहर गया है। उसे आने में देर लगेगी, तब तक मैं कुछ और करता हूं।"

"वह क्या ?"—मैंने पूछा। वह कुछ बोला नहीं, मुझे छोड़कर बाहर आ गया। वहां सलीम, रशीदा, ज़ेबुन्निसा और दो-तीन और लोग बैठे थे। वह भी उनके बीच जा बैठा। मैं अपने कमरे के दरवाज़े की ओट से उसे देखती रही। उसमें कोई झिझक नहीं थी। सामने शराब की बोतल थी। उसने भी शराब पी। वहां और लोग भी पी रहे थे। वे सब बड़ी देर तक चुहल करते रहे। काफी कहकहे लगाते रहे। ज़ेबुन्निसा को आज बुखार नहीं था, पर उसका चेहरा सूखा था। उसमें कोई चमक नहीं थी। वह निस्तेज और परेशान नज़र आ रही थी, परन्तु वहां बैठे लोग उसे ही ज़्यादा छेड़ते थे। वह बनावटी हंसी हंसने का यत्न करती थी। मैं निरंजन को देखती रही, वह क्या बात करता है। उसने मुक्ति न दिलाई तो मेरा भी एक दिन यही हाल होगा। मेरा मन ज़ोर से धड़क रहा था। कान कुछ सुनने को आतुर थे। तभी निरंजन रशीदा के पास पहुंचा।

रशीदा अधेड़ उमर की औरत है, कोई पैंतालीस की होगी। पर अब भी खूब सिंगार करती है। गालों में बड़े-बड़े पान दाबे रहती है। निरंजन ने उसकी एक चुटकी ली। अपनी अंगुलियों से उसके गाल दबाए, तो रशीदा का अधेड़ चेहरा भी शरमाकर लाल हो गया। होंठों की लाली और बढ़ गई, जैसे सूरज के ढलने पर पश्चिम दिशा और लाल हो जाती है। रशीदा ने बड़ी अदा से हाथ उठाया। बोली—"तुम बड़े वो हो···!"

मुझे रशीदा की यह अदा बेहद पसंद आई। उसकी उमर दस साल कम हो गई थी। ऐसी ही अदाओं पर तो वह लोगों को फांसती रही है। निरंजन ने उसे दो सौ रुपये दिए। उसने चीते की तरह झपटकर वे नोट ले लिए। फिर बोली—"आज मुझे दे रहे हो, उसे क्यों नहीं ?"

यह इशारा मेरी ओर ही था। निरंजन ने उसकी पीठ पर हाथ मारते हुए कहा—"उसे तो रोज़ ही देता हूं, कभी तो तुझे भी दूं।"

रशीदा खुश हुई। उसने निरंजन को पकड़कर ऐसा खींचा कि वह नीचे लेट गया। वह लेटा रहा, रशीदा ने उसका सिर अपनी गोद में रख लिया। वह उसके

सिर पर हाथ फेरने लगी और उसके बालों को सहलाने लगी। निरंजन भी पका हुआ खिलाड़ी दिखा। वह उसके गालों से खेलने लगा। मुझे यह अच्छा न लगा, पर मन बार-बार मुझे रोक देता था। वह मेरेलिए ही तो कुछ करने गया था। वहां और लोग बैठे रहे। वे ज़ेबुन्निसा को बराबर छेड़ते रहे। वे उसके साथ खेलते रहे। निरंजन ने धीरे से कहा—"रशीदा···!"

वह बोली—"बोलो···!" उसके कर्कश स्वर भी अब मादक हो गए थे।

"एक बात कहूं ?"

"एक नहीं, दो कहो, मेरे राजा!"

"नहीं रशीदा, बस एक।"

"बोलो !"

"वचन दो कि मेरी बात मानोगी।"

"वचन देती हूं !"

दोनों ने हाथ मिलाए। निरंजन ने धीरे से रशीदा के कानों में कुछ कहा। वह बोली—"बस, इतना ही। अरे ले जा···। पर देख, दो-चार दिन में ले आना। वह तो तेरी ही है। इतनी-सी बात थी, बस !"

निरंजन बिजली की-सी फुरती से उठा और मेरे कमरे में आ गया। वह बहुत खुश था। मेरी कमर पकड़कर उसने कई चक्कर लगवा दिए। मुझे चूम-कर वह बोला—"काम बन गया ?"

मैंने पूछा—"कौन-सा काम ?"

उसने मेरी नाक दबाई—"कल मेरे साथ तुझे दिल्ली चलना है, मेल से। तैयार रहना, एक घंटा पहले आ जाऊंगा।"

इतना कहकर वह सीटी बजाता हुआ चला गया। मेरी खुशी का अन्त नहीं था। निरंजन मेरे लिए देवदूत बनकर आया था। मैं इस नरक से मुक्त हो जाऊंगी। पिंजरे से छूटकर फिर एक बार खुले नीले आकाश में उड़ने को मिलेगा। मैं उस रात कितनी प्रसन्न थी, बता नहीं सकती। वह शायद मेरे जीवन की सबसे बड़ी खुशी थी। मैं सारी रात उड़ती रही। रात के अंधेरे को कब दिन का दीपक पी गया, पता नहीं। सबेरे रेशमी रूमालों की तरह मुझे छोटे-छोटे बादल उड़ते नज़र आए। मुझे लगा वे रोशनी-भरे सूरज को बुलाने के लिए गिलहरियों की तरह भागे जा रहे हैं।

८

शेखर : डायरी—पैदा करने की चाह

बुधवार
दोपहर : १ बजे

···कल से पेट खराब है। आज कुछ खाने का मूड नहीं है। कहीं जाने का भी मन नहीं हो रहा, इसलिए घर में अकेला बंद हूं, लेकिन क्या मैं सचमुच अकेला हूं···! कोई अकेला रह सकता है। जब कोई भी पास नहीं होता, तब भी ढेर-सी यादें होती हैं। वे सामने आकर टेबल पर बैठ जाती हैं। फिर आंखें फाड़कर देखने लगती हैं···फिर वे बातें करती हैं···एक साथ ढेर-सी बातें। वे किसी की बातें सुनती नहीं और सिर्फ दूसरों की बातें सुनना कितनी बड़ी मूर्खता है!

···हर डाल से पत्ते की तरह झरते हुए झरने को तरह यादों का सिलसिला शुरू होता है। मंजरी एक गांव से आई है। गांव मेरा अनदेखा नहीं है। मंजरी के साथ-साथ मैं एक विस्तृत परिवेश में पहुंच जाता हूं। छोटे-छोटे खेत···! खेतों में फूली सरसों।···मेड़ों पर उगी हुई घास के बीच से गुज़रती हुई सर्पीली पगडण्डी।···किसी खेत के छोर पर भरा हुआ तालाब। गंदे पानी में ध्यान-मुद्रा में खड़ी सारसों की जोड़ी। जंगल से उठती हुई वन तुलसी की तीखी गंध···! फिर सागौन का फूलना···फूलना और फिर नंगा हो जाना···! चार के झाड़ों पर आकाश—तारों की तरह अटके हुए नन्हें-नन्हें फूल, सफेद और चमकीले। धूल-भरे रास्तों से गाय-भैंसों का गुज़रना।

उनके पीछे लगा अकेला चरवाहा···। ऐसा ही कोई अकेला चरवाहा हमारी ज़िन्दगी के पीछे लगा रहता है और हमें जीने नहीं देता। उसकी मार से ही नहीं उसकी आवाज़ से भी डर लगता है।

···एक पुरानी कहानी है। एक कस्बा सम्पन्न और सुखी था। वहां किसी आदमी की मृत्यु नहीं होती थी, लेकिन अचानक एक आवाज़ उसे सुनाई देती

थी। वह सबकुछ छोड़कर उस आवाज़ के पीछे भाग जाता था। वह कहां चला गया, फिर किसी को पता नहीं।

आवाज़ों का यह क्रम उस कस्बे में चलता रहा। यह देखकर एक नाई ने संकल्प किया कि जब उसे आवाज़ सुनाई देगी तो वह मज़बूती से खड़ा रहेगा और उस आवाज़ का प्रतिरोध करेगा।

साल, महीने और दिन गुज़रते गए···एक दिन वह किसी आदमी की दाढ़ी बना रहा था कि अचानक उसे वही आवाज़ सुनाई दी। उसने उस्तरा रखकर अपने दोनों कानों में अंगुलियां डाल दीं, आवाज बंद नहीं हुई। फिर उसने खड़े होकर उसे चुनौती दी—"मैं नहीं आऊंगा···हरगिज़ नहीं।"

आवाज बढ़ती गई। उसने दांत पीसे और दाढ़ी बनाना छोड़कर वही उस्तरा हाथ में लिए वह अनजानी दिशाओं की ओर दौड़ गया। वह चिल्लाया—"ठहरो, मैं तुम्हें देखता हूं।" नाई फिर कभी नहीं लौटा। एक आवाज़ का विरोध करते हुए वह आवाज़ों के घेरे में फंस गया।

···ऐसी ही कुछ आवाजें हमें घेरे रहती हैं। चरवाहा पीछा नहीं छोड़ता। बेमतलब एक-दूसरे की ज़िन्दगी में घुसपैठ करना हमारा धर्म है···मंजरी से मुझे हमदर्दी है। खेतों की मेंड़ों पर घूमती हुई किसी अल्हड़ लड़की की जगह मैंने मंजरी को देखा है···सिर पर पानी के घड़े रखे और घड़ों को दोनों हाथों से ऊपर उठाकर पकड़े हुए पायलों की आवाज के साथ कमर पर लोच देती हुई किसी ग्राम्य-कन्या के रूप में मैं मंजरी को देखता हूं···ताज़े लिपे हुए आंगन में किसी प्रवासी के लौट आने की प्रतीक्षा में आटे का चौक पूरती हुई मंजरी ने मेरी आंखों को मज़बूती से पकड़ लिया।···फिर···फिर···! अब कुछ नहीं है वहां, एक शहर रातों-रात खड़ा हो गया है और उसका शिकार मंजरी है। इसी के साथ फटे हुए पीपे से बूंद-बूंद रिसते हुए तेल की तरह ज़िंदगी शुरू हो जाती है। ऐसी ज़िन्दगी निरर्थक है, लेकिन निरर्थक ज़िन्दगी ही तो हम सब जीते हैं।

···शोभना ने कभी खेत-खलिहान नहीं देखे उसने हमेशा गरजते हुए समन्दर को देखा है। समन्दर कभी कुछ रखता नहीं, सबकुछ बांट देता है। वह अनदेखा और अनसुना, गरजता-बरजता रहता है। कभी कोई उसके सामने पहुंच जाता है तो वह अपनी भुजाओं से उसका आलिंगन करने के लिए आगे बढ़ने लगता

है। वहां पहुंचकर हम अपने सुख-चैन की कहानी रेत में लिख जाते हैं और हमारे जाने के बाद वह फिर अपनी तरंग-अंगुलियों पर अपने सनकी सपने गिनने लगता है···। शोभना ने सबकुछ इसी सागर से ही तो सीखा है।

उसके साथ मेरी हर शाम अच्छी गुज़री है। उस दिन हम रेसकोर्स गए थे। महालक्ष्मी के मैदान में दौड़ते हुए घोड़ों का हमने सौदा किया था। पागलों की तरह भागते, चीखते और चिल्लाते आदमी हमने वहां देखे थे। हमने कई ऐसे सनकी भी देखे हैं जो खाली जेब आपके पास आकर कोई बड़ी भविष्यवाणी करने का दम्भ करते हैं···इतनी बड़ी भीड़, इतने बड़े कोलाहल में हम दोनों हमेशा अकेले रहे हैं। एक दूसरे में खोए हुए, एक दूसरे में मिले हुए, लेकिन अलग भी।

दौड़ते हुए घोड़ों की परवाह किये बगैर शोभना ने कहा था—"शेखर, अपनी ही देह और अपने ही खून से एक बच्चा पैदा करना कितना एक्साइटिंग है।"

मैंने उसे देखा था और मुझे अज्ञेय की एक कविता याद आ गई थी :

बीनते हुए बिखरा-निखरा सोना
फल भरे शरद का
हम क्या कभी सोचते हैं : वसंत अनावश्यक था ?

उस क्षण शोभना मुझे उन्हीं पागलों में से एक लगी थी जो रेसकोर्स में खाली जेब आकर केवल भविष्यवाणियां करते हैं। यह पुराना किस्सा ही बार-बार दोहराना है तो सारा किस्सा एक बार क्यों नहीं कह दिया जाता। नारी की नियति इसी तरह भ्रम में फंसे रहने में है।

शोभना ने कहा था—"शेखर, मैं तुम्हारी तरह, बिलकुल तुम्हारी तरह एक लड़का पैदा करूंगी। फिर किसी नर्सिंग होम में तुम मुझे दाखिल कर देना··· फिर मैं उस लड़के को किसी यतीमखाने में दान कर दूंगी···और हर सप्ताह हम दोनों उसे देखने चलेंगे···!"

मैंने उसी समय जोर से आवाज दी थी—"शोभना, एक नम्बर का घोड़ा आ गया···देखो तो, ट्रिपल पूल में तुम्हें कितने रुपये मिलने वाले हैं !"

"ओफ्!"—वह काउंटर की तरफ बेतहाशा भागी थी—"पचास के पांच

हज़ार ! ···आज की रात हम 'ओबेराय शेर्लटन' में गुज़ारेंगे, शेखर···मज़ा आ गया, चलो···!"

···ऐसा कभी नहीं होता, मुझे दिन में नींद नहीं आती ! मैं उनका विरोध करता हूं, जो दिन में सोते हैं, लेकिन आज तो मुझे भी जम्हाई आ रही है··· मैं सीधा बिस्तर पर लेट जाता हूं, एकदम सीधा और छत पर लगे पंखे को घूरता हूं। उसकी परिधि दिखाई नहीं देती, लेकिन इसका यह अर्थ तो नहीं कि पंखे की परिधि-रेखा नहीं है।

९

ठाकुर निरंजनसिंह : अपनी दुनिया में

मंजरी को उस ज़िंदगी से मुक्ति मिल गई थी। उसे लेकर मैं दिल्ली आ गया था। दिल्ली में मैं किसी को नहीं जानता था। मेरा लोहे का छोटा-सा व्यापार है। उसके सिलसिले में मुझे कई बार दिल्ली आना पड़ता रहा है। इसलिए वहां की हर चीज़ देखी-परखी है। जिनसे माल उठाता हूं, परिचय के नाम पर उनकी शक्ल तो जानता ही हूं। यही बात मेरे बारे में है—वे भी शक्ल-सूरत से मुझे पहचानते हैं।

दिल्ली आकर दरियागंज के एक छोटे-से होटल में हम ठहर गए। इस होटल में हमने एक-दूसरे को पति-पत्नी के रूप में घोषित किया। यही एक आसान तरीका है, जिससे व्यर्थ की परेशानियां हटाई जा सकती हैं।

गांव में मेरी पत्नी है, और बच्चे हैं। उन्हें केवल इतना पता था कि मैं दूकान के लिए माल खरीदने के सिलसिले में दिल्ली गया हूं। पत्नी को यह पता नहीं कि मेरे साथ मंजरी है। उसे वैसे भी बहुत कम पता है। वह इतना जानती है कि मैं कोरे आदर्शों में बंधा आदमी नहीं हूं। मैं कभी-कभी शराब पीता हूं। दीवाली के आसपास जुआ खेलता हूं। जहां बहता हुआ पानी मिल जाता है, उसके साथ तैरता हुआ बहने लगता हूं, परन्तु उसे आज तक यह पता नहीं लगा कि वे कौन औरतें हैं, जिनके बहाव में मैं आ जाता हूं। मैं इसका पता उसे भी नहीं लगने देना चाहता। इस मामले में मैं सख्त आदमी हूं। मेरे साथ बसी हुई जो नितान्त अकेली दुनिया है, वह व्यर्थ के प्रचार-प्रसार के लिए नहीं है।

मंजरी दिल्ली आकर प्रसन्न थी, क्योंकि मैं उसे दिल्ली घुमाता हूं। वह पहली बार इस शहर में आई थी। यहां की हर चीज़ देखकर वह परेशान थी। कहां एक सूखा और सूना माहौल और कहां दिल्ली की भरी-पूरी ज़िंदगी। दिल्ली की गलियां अपना अलग रूप रखती हैं. इसीलिए एक शासक ने लिखा था—'कहां जाएं मीर दिल्ली की गलियां छोड़कर।'

घूमने के बाद रात को जब मेरी अचानक नींद खुल जाती, तब कभी-कभी मुझे अपनी पत्नी और बच्चों की याद हो आती। कई बार लगता, मैं अपनी पत्नी केतकी को भी ले आता तो कितना अच्छा होता···परन्तु दूसरे क्षण विचार बदल जाता। कितना बेहूदा ख्याल है यह! दो औरतें कभी साथ नहीं रह सकती। एकाध बार यह भी सोचता कि मंजरी के साथ यह खेल कब तक चलेगा! यदि इसे मैं छोड़ दूं तो···।

मैं उसके चेहरे को देखता हूं। मैं उसे छोड़ दूंगा, तो वह फिर उन्हीं भेड़ियों के बीच पहुंच जाएगी। तब···? साल-भर में ही न मजरी की ये आंखें रहेंगी और न उसका यह व्यवहार होगा। वह बदल जाएगी, एकदम बदल जाएगी और उसे बदलना पड़ेगा। और बदले क्यों न? मैंने उससे प्यार जताया है और उसने मुझपर कितना भरोसा किया! वह जानती है, मैं क्वांरा नहीं हू। मेरी उमर भी चालीस के करीब है। फिर भी वह मेरी गोद में अपनी तपन बुझाती है। मेरे सामने वह अपना तन-मन खोल देती है। कोई दुराव तो उसने नहीं रखा। तब···? क्या छोड़कर मैं उसे धोखा नहीं दूंगा? वह पुरुषों के बारे में क्या सोचेगी? मेरा मन चीख उठता और मैं एक नशे में डूब जाता।

एक दिन मंजरी ने कहा—"नीरू, तुम मुझसे कितना प्यार करते हो। तुम्हारे प्यार का प्रतिदान मैं शायद नहीं दे पाती। मुझे शायद प्रेम करना नहीं आता।"

मेरी गोद में उसने अपना सिर पटका—"सचमुच नीरू, मैंने प्यार नहीं जाना है। तुम्हीं बताओ तुम्हें कैसे प्यार करूं? न बचपन में पिता का प्यार पाया और न ब्याह के बाद पति का। सारे जगत की भर्त्सना पाई है, केवल इसलिए कि मैं नारी थी, मैं लड़की थी। कभी किसी ने अपने कलेजे से लगाकर स्नेह और प्यार के दो बोल मेरे कानों में नहीं डाले। तुम्हीं कहो, तब मैं प्यार क्या समझूं? तुमने मेरे प्यार के पीछे अपना घर-बार छोड़ दिया है, पर मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकी हूं?"

मंजरी की भावनाएं मैं समझ गया था। अपनी दोनों हथेलियों से मैंने उसके दोनों गाल पकड़कर ऊपर उठाए। उसकी आंखें डबडबाई थीं। उन सीपों से बड़े-बड़े मोती ढुलकने लगे थे। मैंने वे आंसू पोंछे। मैंने कहा—"तुम गलत सोचती हो, मंजरी। तुम्हारा कितना प्यार मैंने पाया है! आज भी पा रहा हूं।

तुम्हारे प्यार में मेरा मन आकंठ डूबा है। मैं तुम्हारी आंखों में मौसम को हंसता हुआ देख रहा हूं। इस खौलते हुए भागते शहर में मैं कितनी बार नहीं आया, लेकिन तुम्हारे साथ आने पर लगा, जैसे मैं पहली बार आया हूं। सब-कुछ नया और ताज़ा-सा लगता है, मंजरी। अनजाने, बेपहचाने और अबोले तुम ऐसा कुछ देती रहती हो, जिसे केवल मेरा हृदय ही समझ सकता है। शब्दों में उसे व्यक्त मैं नहीं कर सकता। तुम अपने मन से यह धारणा हटा दो कि तुम्हें प्यार करना नहीं आता। इससे तुम्हारे मन में हीनता की भावना पैदा होगी। तुमने अब तक कितना कुछ नहीं सहा! अब अपने मन में कोई सड़न मत पैदा होने दो! नई सड़न तुम्हें तोड़ देगी। इस टूटन से भागो! ज़िन्दगी को विश्वास के तराज़ू पर आस्था के बाटों से तौलो!"

शायद मंजरी को राहत मिली थी। उसके चेहरे पर गुलाबी रंग उभर आया था। आंखों में एक चमक उतर आई थी। वह कुछ बोली नहीं, पर अबोले ही वह बहुत-कुछ बोल गई थी। उसमें विश्वास लौट आया था—मेरे प्रति, जीवन के प्रति और जगत के प्रति।

उस रात हम लोग सिनेमा देखने चले गए। लौटकर आए तो सिनेमा की कहानी ने हमें फिर उलझा दिया। चित्र था 'रानी रूपमती'। मंजरी ने बाजबहादुर और रूपमती की ज़िन्दगी के बारे में मुझसे बहुत-कुछ कहा। मैंने सबकुछ उसे बताया। अन्त में एकाएक उसने कहा—"नीरू···!" वह रुक गई। मेरे चेहरे को देखने लगी। मैंने कहा—"बोलो, रुक क्यों गई? क्या कहना चाहती हो?"

रुकते-रुकते उसने कहा—"तुम विश्वास तो दिलाते हो, पर मन कई बार डगमगाने लगता है। सोचती हू, तुम रशीदा और सलीम से मुझे मांगकर लाए हो। मैं उनकी दी हुई वस्तु हूं और एक अमानत हूं। अमानत हमेशा पराई होती है। और तुम ··!"

—"मैं अमानत में खयानत नहीं कर सकता, यही कहना चाहती हो न?"

उसने अनजाने सिर हिलाकर हामी भर दी। मैंने उसकी भुजाएं पकड़ लीं। बोला—"गलत समझती हो।" मैं कोई सिद्धान्तवादी नहीं हूं। सिद्धान्तों पर भरोसा नहीं करता। वे तो सुविधा के लिए बनाए जाते हैं। मैं अमानत को भी लूट सकता हूं और लूटने की मैंने तैयारी भी कर ली है।"

"क्या ?" —ज़ोर से, विस्मित होकर उसने कहा।

मैंने धैर्य और विश्वास से कहा—"हां, मंजरी, रशीदा को मैंने पत्र लिख दिया है।"

"क्या लिखा है ? यही कि वे मुझे आकर ले जाएं ? मैं उनके साथ नहीं जाऊंगी। कभी नहीं जाऊंगी।" यह क्रन्दन करने लगी और तड़पने लगी। मैं उस मछली को तड़पता देखने लगा था जो जाल में फंसी थी और पानी के बाहर थी। मैंने कहा—"तुम्हें देने के लिए रशीदा को नहीं बुलाया, तुम्हें उससे लेने के लिए यहां बुलाया है।"

न जाने क्यों मंजरी को मेरी बातों पर भरोसा नहीं हुआ। वह रात-भर कांपती रही। मैं उसे अपनी देह से लगाए रात-भर सहलाता रहा।

सवेरे रशीदा और सलीम आ गए थे। सलीम ज़ोर-ज़ोर से डांट रहा था। कह रहा था—"तुम पर भरोसा किया था। शीला को हम नहीं छोड़ सकते। वह तो सोने का अण्डा है।" मैंने उसे समझाया—"भाई, तुम जो व्यापार करते हो, अच्छा नहीं है। वह कानून की दृष्टि से अपराध है। अब तो सरकार ने कानून भी पास कर दिया है।..."

रशीदा झल्ला पड़ी—"कानून-आनून हम नहीं जानते। देखती हूं, तुम इसे कैसे छीनते हो !" उठकर उसने मंजरी के हाथ पकड़ लिए और उसे खींचने लगी।

मैंने समझाया, पर वह न मानी। तब मुझे गुस्सा आ गया। खड़े होकर मैंने रशीदा का हाथ खींचकर छुड़ा दिया। ज़ोर से मैंने कहा—"खबरदार, अब हाथ लगाया तो !"

सलीम भी तब तक बिगड़ उठा। अपनी मूंछों पर हाथ फेरते हुए बोला—"आओगे तो वहीं बेटा ! देखता हूं !" मैं भी ठाकुर था, क्षत्रिय ठाकुर। इन धमकियों से भला क्यों डरनेवाला था। मैंने भी मूंछों पर हाथ फेरा—"देखता हूं तुम क्या करते हो।"

मैं जानता था, ये गुण्डे हैं, इसलिए फिर मैंने ही नरमी से काम लिया। सलीम को हाथ पकड़कर बैठाया। मैंने कहा—"देखो सलीम, इसे तुम बरगी से उठाकर लाए हो। उस घटना की पुलिस में रपट भी दर्ज है। मंजरी एक भले घर की ब्याहता औरत है। मैं चाहूं तो तुमको जेल भेज सकता हूं।"

सलीम ने कहा—"इसका क्या सबूत है कि मैं इसे उठाकर लाया। मैं कह सकता हूं कि यह खुद यहां अपने मन से आई।"

मंजरी ने यहां साहस दिखाया। बोली—"क्या मेरे मुंह नहीं है ?"

उसके इस वाक्य ने मुझपर बड़ा असर किया। मजरी सचमुच उस ज़िन्दगी से मुक्ति चाहती है। मैंने तब अधिक गहराई से काम लिया। बोला—"देखो सलीम, मैं तुम्हारे यहां कई सालों से आता रहा हूं। यह अधेड़ रशीदा भी मेरे साथ खेली है। तुम्हारा स्थायी ग्राहक हूं, इसलिए तुमसे हमदर्दी है। मनुष्य मनुष्य के प्रति हमदर्दी रखता ही है। तुम्हें लड़कियों की कमी ही नहीं है। समाज में जब तक कुत्ते, बाज़ और भेड़िये हैं, तुम्हें शिकार मिलता रहेगा। पर मंजरी की मुक्ति के लिए मैं तुमसे भीख मांगता हूं। कानूनीतौर से तुम अपराधी हो। अब तो सरकार ने तुम्हारा पेशा भी गैरकानूनी कर दिया है। कभी भी तुम्हारे अड्डे पर छापा मारा जा सकता है। पर यह कानून तुम्हारा नुकसान नहीं कर सकता, मैं एक मित्र के नाते तुमसे यह कह रहा हूं। कानून सरकार बनाती है और समाज उसे तोड़ता है। एक आदमी अपराध करे तो उसे सज़ा दी जा सकती है, पर किसी देश के कानून में समूचे समाज को सज़ा देने का विधान नहीं है। इसलिए समाज मुक्त है, व्यक्ति अपराधी है। समाज व्यक्तियों का समूह है। वह एक शृंखला है। शृंखला की कड़ियां हरदम टूटी हैं और टूटती रहेंगी। समाज अपने को बंधा समझता रहेगा, पर वह टूट रहा है और टूटता रहेगा। इसीलिए इसका लाभ तुम्हें मिलता रहेगा। कोई कानून तुम्हारे लाभ में अड़ंगा नहीं डाल सकता। पर मैं एक बात कहता हूं। तुम भी मनुष्य हो। इस पेशे में तुम भी विवश होकर आए हो। अपनी विवशता को पहचानो! दूसरों की विवशता को जानो! मनुष्य बनकर काम करो! मंजरी वहां नहीं रहना चाहती, मन से नहीं रहना चाहती। तुम यह भी जानते हो, मैं विवाहित हूं। खुलकर मंजरी को अपनी पत्नी नहीं बना सकता। आज जब मंजरी के साथ हूं कम मुसीबत नहीं है। आगे मुसीबतें और बढ़ेंगी, परन्तु इसकी रक्षा के लिए, मैं उन मुसीबतों से भय नहीं खा सकता। चाहो तो मजरी से पूछ लो। चाहो तो अकेले में पूछ लो।"

मेरी बात सुनकर सलीम चुप रहा। रशीदा मंजरी को उठाकर दूसरे कमरे में ले गई। जाते समय मंजरी ने मुझे हिरनी जैसी दयनीय आंखों से देखा। मैंने कहा—"डरो नहीं, जाओ!"

थोड़ी देर के बाद रशीदा लौट आई। सलीम से उसने कुछ बात की। सलीम बोला—"ठाकुर साहब, तुम कहते हो तो मान लेता हूं। पर मेरी दो शर्तें हैं—एक तो यह कि उस घटना की खबर कभी पुलिस को नहीं लगनी चाहिए, और दूसरी यह कि मंजरी पर मुझे दो सौ रुपये खर्च करने पड़े हैं, हमारे जो अपने नियम हैं, उन नियमों के पालने के लिए। वह पैसा भी तुम्हें देना होगा और हमारे आने-जाने का खर्चा भी।"

मैंने तुरन्त ये सारी शर्तें स्वीकार कर लीं। सलीम को मैंने गले लगाया। रशीदा के हाथ चूमे। दोनों को मैंने होटल में खाना खिलाया और फिर उन्हें विदा दी।

उन्हें पहुंचाकर लौटा तो मंजरी मुझसे लिपट गई। लिपटकर वह खूब रोई, फूट-फूटकर रोई। मैं उसे सहलाता रहा। उसे साहस बंधाता रहा। वह रोती रही। घंटों वह रोई। रोते-रोते उसकी आंखें फूल गई थीं। उस रात मंजरी अचेत सोती रही। सारी रात उसकी नींद नहीं टूटी। मैं बराबर उसे देखता रहा। महीनों से जागते अपने मन को शायद वह आज पूरी तरह सुला देना चाहती थी। मेरे मन को भी संतोष हुआ। अब वहां कोई कांटा नहीं था।

सलीम और रशीदा के जाने के बाद मेरे मन में कुछ परेशानियां उठीं। ये मेरे घर जाकर केतकी से बता सकती हैं, तब ? केतकी यहां आए बिना नहीं रहेगी। फिर क्या होगा ! बहुत रात तक मैं अकेला यही सोचता रहा…! मैं यह नहीं चाहता था कि एक की खुशी के लिए दूसरे को उजाड़ दूं, लेकिन यह मसला भी ऐसा था कि उसपर बहुत नहीं सोचा जा सकता था। जब ऐसा प्रसंग आएगा, देखा जाएगा।

मैं सोती हुई मंजरी को देखता रहा—तिरछा पड़ता हुआ धूप का एक टुकड़ा ! सोई हुई वीनस की मूर्ति ! मैंने धीरे-धीरे उसके बदन से लगी हुई साड़ी नीचे खिसका दी। ऊपर का ब्लाउज़ भी मैंने उतार दिया। इस प्रक्रिया में उसने एक-दो बार करवट ली और फिर बेसुध सीधी पड़ गई। टेबल लैम्प को जलाकर मैंने उसका प्रकाश मंजरी की देह पर पड़ने के लिए छोड़ दिया। उसके तराशे हुए एक-एक अंग को देखने लगा, जैसे मैं उन्हें पहली बार देख रहा हूं।

अकेला, स्तब्ध कमरा ! घोर शांति ! कमरे के बाहर क्या है, कुछ पता

नहीं, भीतर के भी इस पूरे माहौल से मैं कटा हुआ था। अपूर्व सौन्दर्य मेरे सामने अचेत पड़ा था। उस समूची देह पर मैंने हाथ फेरे। मन हुआ कि उसे उठाऊं और बताऊं कि वह कितनी सुन्दर है। वह क्षण कितना कीमती है!··· परन्तु, नहीं! मैंने वीनस को सताना ठीक नहीं समझा। वरदान की यह देवी न जाने किस लोक में भ्रमण कर रही होगी।

सारी रात इसी तरह बीत गई और अचानक बाहर से नल चलने और कप-बसियों के खड़खड़ाने की आवाज़ें आने लगीं। सबेरा हो चुका था। मैंने तब वह प्रकाश बुझा दिया और उसकी देह को समेटकर सो गया।

सुबह दिल्ली का चेहरा बदल गया था। मंजरी एक रात में इतनी बदल गई थी। आदमी की ज़िदगी इसी तरह एक पल में बदल जाती है। अब मेरे मन में भले परेशानियां हों, मंजरी वसंत के पतझड़ के बाद नई कोपलों से भर उठी थी। वह लगातार मेरे साथ झूमती रही। चांदनी चौक से लेकर गालिब की मजार तक उसने सब-कुछ देखा। निजामुद्दीन औलिया की दरगाह में जाकर उसने मनौती मांगी। झुककर जब उसने औलिया की कब्र को हाथ लगाया तो उसकी आंखों से आंसू की दो बूंदें नीचे लुढ़क गई, लेकिन बाहर आते ही वह ताज़े फूल की तरह हंसने लगी।

हम वहां से कालका जी के शिव मंदिर में गए। मंजरी ने उतनी ही श्रद्धा के साथ वहां भी फूल-मालाएं चढाईं। सारा दिन घूमने के बाद शाम को बिरला मंदिर की आरती में हम शामिल हुए और फिर वहीं पीछे के बाग मे बैठ गए। वह जैसे श्रद्धा और भक्ति का दिन था। मुझे लग रहा था, मंजरी मौन होकर व्यतीत का प्रायश्चित्त कर रही थी और अपने को एक नई ज़िदगी के लिए तैयार करती जा रही थी।

मैं प्रायश्चित्त पर विश्वास नहीं करता। ईसा के सामने कन्फेशन करनेवाले अपने को दूसरे कन्फेशन के लिए ही तो तैयार करते हैं। हिन्दू धर्म में इस स्वीकृति के लिए कोई स्थान नहीं है। वहां किए का परिणाम भोगना अनिवार्य नियति है। दोनों धर्म कहीं-न कहीं भटके हुए हैं। धर्म कोई भी हो, कैसा भी हो, उलझा हुआ होता है। वह एक भ्रष्ट संस्था के कुछ मठाधीशों का षड्यंत्र है। जीने के लिए सांसों की ज़रूरत है, धर्म की नहीं। दुनिया-भर के धर्म मात्र एक भटकन में पड़े हुए उलझे तार हैं, जिनसे आदमी का हाथ कटता है। वह

स्थिति कितनी मज़बूत होगी, जहां आदमी किसी और पर नहीं, अपने-आप पर भरोसा करना सीखेगा। अपने से कट जाना एक पलायन है और अनजानी शक्ति पर विश्वास करना एक धोखा है। परन्तु यह धोखा भी एक बल दे जाता है, शायद मंजरी उसी में खुश है। आदमी के हर अनुसंधान और खोज का लक्ष्य सुख पाना नहीं तो और क्या है!

यह भी एक विचित्र बात है कि आस्था और पुण्य का सम्बन्ध स्त्रियों के साथ ज़्यादा है। मंजरी जो कुछ कर रही है, वैसा ही तो केतकी करती है—दोनों में क्या अंतर है?

१०

केतकी : धर्मपत्नी

निरंजनसिंह मेरे पति हैं। उनसे विवाह हुए सोलह वर्ष हो गए हैं। जब मेरा ब्याह हुआ था, मैं सोलह की थी। आज ३२ वर्ष की हूं। सोलह वर्षों का समय बड़ा नहीं होता। पर मुझे वह भारी लगने लगा है। इस समय मेरे चार बच्चे हैं। बीच में दो नहीं रहे। निरंजन मुझे चाहते थे, खूब चाहते थे। आज नहीं चाहते, यह बात नहीं। पर न जाने क्यों वे काफी बदल गए हैं। विवाह के दूसरे साल मेरा पहला लड़का हुआ। सबने खुशी मनाई, पर वे खुश नहीं हुए। तब वे पढ़ते थे। गांव की पाठशाला में रात को पढ़ने जाते थे। दिन को दूकान में बैठते थे। कहते थे, अंग्रेजी पढ़ता हूं। अंग्रेजी में कुछ पढ़कर मुझे सुनाया भी करते थे, परन्तु मुझे जब कुछ समझ में आए तब न! मैं तो हिन्दी भी नहीं पढ़ी थी। लड़का हुआ और दस दिन तो मैं खाट से बंधी रही। इस बीच शायद ही वे मेरे कमरे की ओर आए होंगे। उनके न आने का मैंने बुरा नहीं माना। कारण, सास का कहना था कि बच्चा मूल में पड़ा है। लड़के का मुंह बाप को नहीं देखना चाहिए। बाप को लड़के की मां को भी नहीं देखना चाहिए। वे नहीं आते, अच्छा करते हैं। मैंने भी दस दिन लड़के को आंख भरकर नहीं देखा। उसे साथ सुलाती थी, दूध पिलाती थी। अचानक उसपर नज़र भी पड़ जाती थी। तब वह हंसता था। उसका हंसता हुआ चेहरा देखकर मेरा मन एक अनजाने संतोष से भर जाता था।

दस दिन के बाद मूल कटा। पंडित ने पूजा कराई। तब कहीं शांति मिली। उसका मुंह उनसे मिलता-जुलता था। उसे उछालती हुई एक दिन में उनके सामने पहुंच गई। मैंने कहा—"देखो तो, हमारा बच्चा कितना सुन्दर है!"

उन्होंने कहा—"अपना कहो!"

मैं बोली—"क्या तुम्हारा नहीं है?"

वे बोले—"नहीं।"

मेरे पैरों से धरती खिसक गई। बोली—"क्या कहते हो ?" वे हंसे। मैंने समझा, वे मज़ाक कर रहे हैं। हंसते हुए ही मैं बोली—"मेरा ही सही, पर देख तो लो।"

यह सुनकर वे आपे में नहीं रहे। बोले—"कहो तो उसके बाप को बुला दूं ?"

मेरा मुंह अवखुला रह गया। वे क्या कह रहे थे। मैंने अपनी पलकें उठाकर उनकी ओर देखा। उनकी भवें तनी थीं, चेहरा सख्त था। वैसे उनका नुकीला चेहरा वैसे भी हमेशा सख्त रहता है। मैंने कहा—"तुम्हारे मन में यह पाप कहां से आया ?"

वे तेज़ी से बोले—"सचाई को पाप कहती हो ? पटेल का लड़का हर बार तेरी ही बात क्यों दूसरों से करता है ? तेरी सुन्दरता के बखान में ढेर-सी उपमाएं क्यों देता है ?"

मैंने कहा—"भरोसा रखो। मैं यह कुछ नहीं जानती।"

उन्होंने तीखी आंखों से मुझे देखा और चले गए।

वे चले गए तो मैं सोचती रही। पटेल का लड़का क्यों ऐसा कहता है। पटेल के लड़के को मैं जानती हूं। कई बार वह मेरे घर आया है। अब भी कभी-कभी आता है। वह उनका मित्र है। उनके सूने में भी वह हमारे घर आया है। कभी मेरी सास रही है, कभी वह नहीं रही। मुझे वह भाभी कहता है। मैं भाभी के रिश्ते को मज़बूत मानती हूं। मेरे सामने सीता का आदर्श है। मैं सोचती हूं हर देवर लक्ष्मण है, वह लक्ष्मण जिसने कभी सीता के पैरों से ऊपर नज़र नहीं डाली। पटेल के लड़के ने भी कभी मुझसे नज़र नहीं मिलाई। वह मज़ाकिया था, मज़ाक बहुत करता था। उसके मज़ाक मीठे भी होते, पर मैं ईमान से कहती हूं, इसके सिवाय उसके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, हो भी कैसे सकता है! कोई हिन्दू नारी अपने पति के सामने पर पुरुष को कैसे देख सकती है।

हां, एक बार उसकी हरकत मुझे अच्छी नहीं लगी थी। मैं नहाने नदी में गई थी। उस दिन घाट पर और कोई नहीं था। नदी नहाने मैं कम जाती हूं। वहां मरदों और औरतों के घाट अलग नहीं हैं। थोड़ी देर में वह भी वहां पहुंच गया। बोला—"भाभी, अकेली नहा रही हो ?"

मैंने कहा—"हां भइया! और तो यहां कोई नहीं है ?"

"मैं जो हूं !"—उसने हंसते हुए कहा।

मैंने बनावटी हंसी में कहा—"हां, हो तो।"

वह तभी पानी में उतर गया और मेरे पास आने लगा। मैंने कहा—"यह क्या भइया, मैं पानी में हूं। तुम्हें शरम आनी चाहिए।"

मैं जल्दी पानी से निकल आई। बाहर आकर मैंने कपड़े बदले। मैंने उसकी ओर नहीं देखा। मैं नहीं जानती, वह मुझे देख रहा था या नहीं। मैं तो भय खा रही थी कि कहीं गांव का कोई देख न ले। मैं जल्दी नहाकर लौट आई। उसके बाद एक-दो बार उसने कहा था—"भाभी, नहाते वक्त तुम और सुन्दर हो जाती हो !"

मैंने उसकी इस बात का कभी जवाब नहीं दिया। जब वे या सासजी घर में न रहते तब मैं उससे कम ही बोलती। पर वह बाहर मेरे बारे में बातें करेगा, नहीं सोचती थी। पुरुष की यदि यही आदत है, तो मैं क्या करूं ? हम औरतें भी बातें करती हैं। कोई पुरुष सुन्दर हुआ या मन में रम गया तो आपस में हम बातें करती हैं। जब अकेली मिलती हैं, तो एक-दूसरे की चुटकी लेती हैं, पर हमारी ये बातें सीमित होती हैं। कभी-कभी होती हैं और उससे ही होती हैं, जिससे पूरी तरह दिल मिला है। हम औरतें ऐसी बातें सुनकर भूल जाती है। उसे बीज की तरह नहीं बोतीं। लोग कहते हैं—औरत के मन में कोई बात नहीं पचती। वह किसी चीज़ को गुप्त नहीं रख सकती। यह पूरी तरह सही नहीं है। हम अपनी सहेलियों की बातों को कभी बाहर नहीं जाने देतीं। पंडित भोलानाथ की बहू कैसी-कैसी बातें करती है। मैंने उन्हें एक कान से सुनकर दूसरे से सदा उड़ा दिया है। वह कह रही थी···नहीं, नहीं ! वह कुछ नहीं कह रही थी। मैं तो अभी बताने ही लगी थी।

पटेल का लड़का यदि कुछ यहां-वहां कहता है, तो मैं क्या करूं ? किसकी जीभ किसने पकड़ी है ? मैंने उन्हें समझाया, मैंने कहा—"अपने मन का भ्रम निकाल दो, हम-तुम दो होकर भी एक हैं ? हमारे बीच तीसरा नहीं आना चाहिए।"

वे झल्ला पड़े, बोले—"वह तो आ ही चुका ?"

मैंने पूछा—"कौन ?"

वह बोले—"वह तुम्हारा लड़का।"

मैं सहम गई। सब समझ गई। उनकी शिकायत पटेल के लड़के की बातों से नहीं है। असल में मेरे मातृत्व से उनकी शिकायत है। वे शायद नहीं चाहते थे कि मैं मां बनूं। अजीब बात है यह ! मुझे मां बनाने में क्या उनका ही हाथ नहीं है ? फिर मां बन ही गई तो उसमें पति को क्यों घबराना चाहिए ? उसे तो प्रसन्न होना चाहिए। वह अपनी प्रेयसी को एक खिलौना दे रहा है। उसे मन-बहलाव का साधन प्रदान कर रहा है। विवाह की यही तो चरम परिणति है। पानी से सिंचा पौधा फूलकर फल देने लगा है। क्या हर माली यह नहीं चाहता ? क्या वह सारी मेहनत इसलिए नहीं करता कि उसके बाग में सुन्दर-सुन्दर फूल खिलें। अच्छे-अच्छे फल लगें ?

मैं उनके मानस को नहीं समझ पाई। यों कहिए कि मैं पुरुष को नहीं समझ पाई। कुछ दिन के बाद वे ठीक तो हो गए पर मैं सोचती हूं कि खाई तभी से पड़ी है। उसके बाद मां बनने का मेरा सिलसिला चलता रहा। न चाहते हुए भी मुझे मां बनना पड़ा है। प्रकृति पर किसका ज़ोर है ! इसमें मेरा क्या अपराध है ! मेरी गृहस्थी बढ़ती गई। गृहस्थी के साथ-साथ मेरी ज़िम्मेदारियां भी बढ़ीं। सास भी अब तक चल बसी थीं। घर में हम दोनों थे। हमारे बच्चे थे। मैं सोचती थी, इससे बड़ा सुख क्या है ? पर नहीं, बड़ों का साया उनपर था नहीं। शासन करने की वृति उनमें नहीं है। पैसों की तकलीफ भी हमें नहीं रही। खेती खाने को खूब दे जाती है और लोहे की दूकान से भी काफी आमदनी हो जाती है। झगड़े की जड़ प्रायः पैसा होता है। मेरे यहां वह नहीं था। उसकी जड़ शायद शंका थी। वे मुझे सदा शंका की नज़रों से देखते रहे। उनकी बातों से यह साफ ज़ाहिर था। मज़ाक में वे बहुत-कुछ कह जाते थे। मैं अब अबोध बच्ची नहीं थी। मैं उनकी बातें समझ जाती थी।

उनके कई मित्र थे। उनके एक मित्र की पत्नी तो मैट्रिक पास थी। पर वह मित्र तीन बार मैट्रिक फेल हो चुके थे। उसने फिर पास होने की कोशिश नहीं की। वे उसकी पत्नी की बड़ी तारीफ करते रहते थे। कहते—"अच्छा सिंगार करती है। मेरी बराबरी से बैठकर बातें करती है।" मैं सुनकर चुप रह जाती। उनसे कह देती—"उसमें और मुझमें बड़ा अन्तर है। वह पढ़ी है और मैं···!"

"मूरख हो।"—वे ज़ोर से कहकर चले जाते। मैं सोचती, वह इनकी बराबरी में बैठती है। मैं पटेल के लड़के से बात भी पूरी तरह नहीं करती। कहीं बराबरी

में एकाध बार बैठ जाऊं तो···? मैं यह भी सोचती कि वे इसी तरह लोगों से भी कहते होंगे कि वह इनकी बराबरी से बैठती है। मैं आह भरकर रह जाती। सोचती, इस दुनिया में नारी कितनी विवश है। पुरुष के साथ वह इसलिए बंधी जाती है कि वह उसे सहारा दे और एक मित्र बने। परन्तु वह···! वह क्या चाहता है, मैं आज तक नहीं समझ सकी। पुरुष नारी को पहेली कहता है, परन्तु मैं कहती हूं कि पुरुष पहेली भी नहीं है। हर पहेली का कोई-न-कोई हल होता है। पुरुष के मन का हल मैं नहीं खोज पाई।

मैं अपढ़ हूं, पर उनकी पत्नी हूं—अर्द्धांगिनी या धर्मपत्नी हूं। मुझे पाकर ही वे पूरे बनते हैं, पर उन्होंने मुझे इस रूप में कभी नहीं देखा। उनका व्यवहार सदा अजीब रहा। अपनी हैसियत से ज़्यादा वे हमेशा सोचते रहे हैं। शायद वही अपेक्षा मुझसे करते रहे हैं। एक तो यह भेद; दूसरा छोटे-छोटे बच्चों का भार; इससे शरीर भी शिथिल रहने लगा था। घर का काम अलग सिर पर था। मैं कुछ ऐसी उलझी रहती कि सांस लेने को फुरसत न मिलती। वे सुबह दूकान पर चले जाते। वहां से दोपहर को भोजन करने आते। फिर रात को लौटते। रात को कभी-कभी दूकान से ही मित्रों के साथ सिनेमा चले जाते। मैंने उन्हें कहीं जाने से कभी नहीं रोका। पर वे चाहते कि मैं हमेशा हंसकर उनका स्वागत करूं। वे दुतकारते रहें और मैं उनसे चिपटती रहूं, यह कभी हुआ है?

जैसे-जैसे परिवार बढ़ा, मेरा काम भी बढ़ता गया। लड़के स्कूल जाने लगे थे। उनका काम क्या थोड़ा होता है? फल यह हुआ कि उनका पूरा काम करना मेरे लिए कठिन हो गया। यों कहूं कि उनकी पूरी ड्यूटी बजाना मेरे लिए सम्भव नहीं था। बस, फिर क्या है। दिन-भर मैं बच्चों के झगड़ों में पड़ी रहती। वे किस-से झगड़ते हैं, नहीं जानती। पर सोचती हूं, दोनों किसी-न किसी झगड़े में ज़रूर पड़े रहते हैं। उनसे मुक्ति पाने के लिए हम दोनों झगड़ने लगे। एक झगड़े से राहत पाने के लिए दूसरा झगड़ा। झगड़ा बुरा होता है। उसके फल बुरे होते हैं। ये झगड़े हमारे बीच की खाई निरन्तर गहरी करते गए। वे मुझसे, घर से और बच्चों से दूर होते गए। मैंने उन्हें नहीं रोका।

तब एक दिन मुझे यह पता लगा कि वे दूसरी औरतों के पास भी जाने लगे हैं। यह बात भी उन्होंने ही बताई। जब उन्होंने बताया तो मैं कुछ न बोली, बस मेरा मन फट गया था। मैंने कुछ कहना भी ठीक नहीं समझा। पुरुष

जो चाहे कर सकता है। एक दिन यों ही मैंने उनसे कहा था—"मैं भी ऐसा करने लगूं तो ?"

वे बोले—"बात कहते तुम्हें शर्म नहीं आई ?"

मैंने कहा—"तुम्हें शर्म नहीं तो मुझे क्यों ?"

उन्होंने एक चांटा मेरी पीठ पर जड़ दिया। बोले—"ऐसा किया तो घर से निकाल दूंगा।"

जिन्दगी इस तरह चलती गई। मैंने अपना पैर कभी ऊंच-नीच नहीं किया। वे जो कर रहे हैं, वे जानें। अपने फल आदमी खुद भोगता है। वे मेरे पति हैं, मेरे देवता हैं। मैंने यही चाहा कि वे किसी उलझन में न पड़ जाएं। उनके उलझने से मैं भी उलझ जाऊंगी। उनका वंश बड़े नाम का था नहीं। सुना था, उनकी मां, अपने देवर के साथ फंसी थी। मैं यह सुनी बात कह रही हूं, सच क्या है, नहीं जानती। सोचती थी, ये भी कहीं फंस गए तो अपने साथ अपनी मृत मां का नाम भी जुड़वाएंगे, पर मेरे सोचने से क्या होता है ?

कल वे दिल्ली से लौटकर आए हैं। कह गए थे—"दूकान के लिए सामान लेने जा रहा हूं।" पर नौकर ने मुझे बताया कि दूकान में सामान तो सब था। बाद में मुझे पता लगा कि वे अपने साथ दिल्ली से एक औरत लेकर आए हैं। यहां से पांच मील दूर एक गांव है। वहीं लाकर उन्होंने उसे रखा है। रात को उनसे मैंने पूछा—"काफी दिन दिल्ली में रहे। कम-से-कम एक पत्र तो दे देते।"

उन्होंने कहा—"बहुत काम था वहां। लोहे का परमिट मिल नहीं रहा था। सरकारी अफसरों को मनाने में ही समय चला गया। पैसा भी बहुत खर्च हुआ, पर काम हो गया।"

मैंने कहा—"यह तो अच्छा हुआ। अपने साथ कुछ सामान लाए हो ?"

उन्होंने कहा—"नहीं, आर्डर दे आया हूं।"

मैं चुप हो गई। मन में कुछ काट रहा था। वे दिल्ली से औरत लाए हैं। मैं यह उनसे पूछना चाहती थी। मैंने कई प्रश्न किए, पर मतलब की बात पर मैं न आ सकी। आखिर मैंने जी कड़ाकर पूछ ही लिया—"सुना है, दिल्ली से किसी को साथ लेकर आए हो ?"

सुनकर वे झल्ला पड़े। बोले—"क्या समझती हो, सब औरतें तुम्हारी जैसी हैं ? क्या दिल्ली में औरतें बिकती हैं ?"

—"मैंने किसी औरत की बात तो नहीं की।"

—"मैं सब समझता हूं, तुम क्या कहती हो।"

—"मैंने गलत कहा है ?"

व जोर से चीखे थे—"मैं जो चाहूं करूंगा। तुम्हारी कमाई नहीं खाता। व्यर्थ बकवास करोगी तो…!" वे वहां से चले गए थे।

मैं सिसकने लगी। मैंने पूछा क्या, मुसीबत मोल ले ली। मुझे याद है, एक बार मैंने उनसे कहा था—"मैं तुम्हारी पत्नी हूं।"

उन्होंने प्रतिवाद किया था—"नहीं, धर्मपत्नी हो। तुम केवल धर्म के लिए हो, सो धर्म के काम करो, बस।"

मैं काफी देर सिसकती रही और फिर बाजू के कमरे में जाकर सो गई। मैंने निश्चय कर लिया कि मैं अब उनसे कुछ न पूछूंगी। उन्हें जो मन में आए करें। पूछने से लाभ ही क्या है ? अपने जनम को धिक्कारने के सिवाय मेरे पास चारा ही क्या है ?

११

निरंजन : समझौता

केतकी मेरी पत्नी। वह अपने जनम को धिक्कारती है, इसलिए कि मैं उसका पति हूं। मंजरी मुझे कोसती है, इसलिए कि मैंने उसका उद्धार किया। मैं इन दोनों के बीच लटक रहा हूं। घर जाता हूं तो अशांति के मेघ घिर आते हैं। मंजरी के पास आता हूं तो वह शिकायतों का ढेर लगा देती है। उसकी निजी शिकायतें हों, तो माना जा सकता है। वह गांव की शिकायत करती है। गांववालों की शिकायत करती है। मैं क्या करूं, सोच नहीं पा रहा।

आज रविवार है। रविवार को बाज़ार बन्द रहता है। यह फुरसत का दिन है। मैंने सोचा, दो बजे दोपहर का समय मंजरी के साथ गुज़ारूं। शाम को पत्नी और बच्चों के साथ। कई दिनों से उनकी फरमाइश है सिनेमा के लिए। आज पिक्चर भी नई लगी है। उनकी फरमाइश पूरी कर देनी चाहिए। केतकी भी प्रसन्न हो जाएगी। दिल्ली जाकर वैसे भी इतने दिन बाहर गुज़ार आया हूं। थोड़ा समय घर में भी बिताना चाहिए।

सवेरे-सवेरे अपने घर से निकल पड़ा। साढ़े छः बजे मंजरी के पास पहुंचा। वह अब भी सो रही थी। मैंने दरवाज़ा खटखटाया तो वह उठी। उसने दरवाज़ा खोला। उसके अलसाए शरीर को मैंने देखा। उसकी इस स्वाभाविक स्थिति में, उसका सौन्दर्य और निखर उठा था। उसके बिखरे बाल चारों ओर से चेहरे को घेरे थे।

वह अपने बालों को ठीक करने लगी। मैंने उसके हाथ अलग कर दिए—"उन्हें ऐसा ही रहने दो। ऐसे बालों में तुम कितनी सुन्दर लगती हो! तुम्हारा यह बे-बना रूप कितना आकर्षक है! थोड़ी देर मुझे और देख लेने दो।" मंजरी लजा गई। तब उसके गोरे गालों में गुलाल उभर आया था। मैंने बाहर देखा। पूर्वांचल पहले से ज़्यादा आरक्त हो उठा था।

मंजरी शरमा गई। उसके गोल गदराए गालों में दो गड्ढे बन गए। वह

भीतर चली गई, परन्तु मैं उन गड्ढों में डूबता रहा। जब वह लौटकर आई तो सजी-संवरी थी। उसका यह रूप भी कम आकर्षक न था।

कहां अछूते कौमार्य की भांति अनछुए चेहरे का सौन्दर्य, और कहां···। वह चाय ले आई थी। एक कप मैंने ले लिया। वह मेरे बाजू में आकर पलंग पर बैठ गई। हम दोनों चाय पीते रहे। जब प्याला खाली हो गया तो उसने मेरी खैर-खुशी पूछी। मेरी पत्नी और बच्चों के बारे में पूछा। मुझे बड़ी खुशी हुई। केतकी और मंजरी—कैसे दो छोर हैं! केतकी होती तो पहले बरसती, फिर चाय पिलाती। उसने कभी मंजरी के बारे में नहीं पूछा। उसका नाम सुनकर वह मुंह बना लेती है। और यह! कितनी सीधी···! कितनी सरल···! कितनी कोमल···! यह बराबर मेरी पत्नी और बच्चों का स्मरण करती है। यह ध्यान रखती है कि मैं किसी तरह नाराज़ न हो जाऊं। सदा मेरी मुद्रा देखकर बात किया करती है।

उसने कहा—"एक बात कहूं?"

"हां कहो। ज़रूर कहो।"

"नाराज़ तो नहीं होगे?"

"ऊं हूं"—मैंने उसकी ओर गहराई से देखा। वह हंसी। हंसते हुए ही बोली—"मालगुज़ार का लड़का अच्छा नहीं है।"

"कौन मालगुज़ार? अब तो यहां कोई मालगुज़ार नहीं है?"

उसने प्रेम से अपनी हथेली मेरे सिर पर मारी—"बड़े मज़ाकिया हो। पुराना मालगुज़ार सही, वही रामसेवक।"

"अरे हां, ठाकुर रामसेवक जी, जिनकी कोठरी में हम-तुम बैठे हैं?"

"हां वही। वे तो देवता हैं। सुबह-शाम मेरी खैर पूछते हैं। कहते हैं, बेटी, जो ज़रूरत हो मांग लेना, हिचकना नहीं। मेरी तीन बेटियां हैं। दो उस घर में हैं। एक तू है। पर उनका बड़ा लड़का हरामज़ादा किस तरह देखता है!"

"कौन, रमेश?"—मैंने पूछा।

"हां, वही। जो न पढ़ा, न लिखा; घोड़े पर बैठा गांव-भर में कूदता रहता है। मूछें तर्राते आता है। मेरे दरवाज़े के सामने घोड़े पर से बड़ी अदा के साथ उतरता है फिर मुझे घंटों घूरता रहता है।

"तुम क्यों उसकी ओर देखती हो?"—मैंने पूछा।

वह बोली—"मैं कहां देखती हूं। कभी-कभी नज़र पड़ जाती है, पर गांव वाले मेरे बारे में क्या सोचते होंगे ? मुझे ऐसी बातें पसन्द नहीं हैं।"

"कैसी बातें ?"—मैंने पूछा।

वह बोली—"ऐसी ही। रात को···!" वह रुक गई। उसका चेहरा सफेद हो गया। उसके चेहरे की सहज लाली न जाने कहां डूब गई।

मैंने पूछा—"रात को क्या हुआ ?"

अपनी साड़ी के छोर से उसने आंखें पोंछीं। बोली—"आधी रात को किसी ने मेरे कमरे की सांकल बजाई। मैंने आवाज़ दी तो कोई न बोला। मैंने सोचा, तुम होगे। इस तरह तुम्हीं मुझसे मज़ाक करते हो। मैंने दरवाज़ा खोला। मेरे कपड़े तब अस्त-व्यस्त थे। दरवाज़ा खोलते ही, वह मुझपर झपट पड़ा। मेरा तो थूक लीलना मुश्किल हो गया। मुश्किल से मैंने अपने को छुड़ाया। मैंने लैम्प की बाती तेज़ की और उसे देखा तो ज़ोर से डांटा। मैंने कहा—"जाता है कि नहीं ? मैं चिल्ला दूंगी।"

"वह बोला—'अब सती बनती है, तेरा इतिहास जो न जाने उससे बन।'"

वह सिसकने लगी। बोली—"नीरू, मैं कितनी पापिन हूं। मैं पूछती हूं कि तुमने मुझे उस पाप के गड्ढे से क्यों उबारा ? एक बार पांव ऊंचा-नीचा हो जाए तो क्या वह फिर ठीक नहीं हो सकता ? क्या राह से भटका मुसाफिर कभी राह पर नहीं आ सकता ?"

मैंने देखा, मंजरी दुखी थी। वह भावना में बही जा रही है। मैंने कहा—"तुम राह से ही कब भटकी थीं। ठहरो, मैं उसे देखता हूं।"

उसने मुझे रोका। बोली—"देख तो मैंने उसे रात को ही लिया था। दरवाज़े पर बेलन पड़ा था, मैंने वही दे मारा। वह दांत पीसता चला गया। बाहर कुछ बड़बड़ाता रहा। मुझे फिर पता नहीं क्या कह रहा था!"

मैं चिंता में पड़ गया। मंजरी को यहां लाया हूं, सोचता था उसकी ज़िन्दगी बना दूंगा, परन्तु यहां नज़र कुछ और ही आने लगा है। ठाकुर रामसेवक कितने भले आदमी हैं, मैंने मंजरी के उद्धार की सारी कहानी उन्हें सुनाई थी। उन्होंने कहा था—"तुमने बहुत बड़ी समाज-सेवा की है निरंजन, मैं तुम्हारे साथ हूं।"

उन्होंने अपना एक खेत भी देने को कह दिया था। इस गांव में मेरी छोटी-सी ज़मीन पड़ी है। सोचता था, इसमें एक कच्चा घर बनवा दूंगा। मंजरी

उसमें रहेगी। खेती से पेट भरेगी। गांव के पंडितजी से मैंने बात कर ली थी। वे उसे पढ़ाने को तैयार थे। दो-चार साल में वह पढ़ जाएगी, तो गांव का ही भला होगा। वह छोटे-छोटे बच्चों को पढ़ा सकेगी। परन्तु, यह क्या ? उसी मालगुज़ार का लड़का ऐसी नीयत रखता है। कैसे क्या होगा ? गांव का और कोई आदमी होता, तो मैं निपट लेता। पर ठाकुर साहब से कहूंगा तो वे मेरा कहा न मानेंगे। मंजरी को और लांछित करेंगे। अजीब लोग हैं इस दुनिया में। एक बार यदि किसी का पांव नीचे-ऊपर हो जाए तो फिर…! वह छुड़ाना भी चाहेगा, दुनिया में ऐसे कुत्ते हैं, जो छुड़ाने नहीं देंगे। मेरा मन उचाट हो गया था। मैं वहां से उठा, बाहर आ गया और मालगुज़ार की बखरी की ओर चल पड़ा।

बाहर रमेश बैठा था। अपने बच्चे को गोद में खिला रहा था। उसके सिर पर पट्टी बंधी थी। मैंने नमस्ते की और पास में रखी दूसरी कुरसी पर बैठ गया। मैंने पूछा—"सिर में क्या हो गया, रमेश ?"

उसने कहा—"कुछ नहीं। यों ही, रात को चौखट लग गई थी। ज़रा-सी चोट आ गई है।"

मेरे दांत अपने-आप बंध गए। लगा, उठकर इसे एक घूंसा दूं और चौखट की चोट का मज़ा बताऊं, पर इस तरह ज़ल्दबाज़ी ठीक न होगी। मैं मुश्किल से अपने को रोक सका। तभी ठाकुर रामसेवक वहां आ गए। बोले—"निरंजन, आज उस खेत का पट्टा ले जाओ, मंजरी के नाम कराना है। और देखो, कुम्हार को मैंने कह दिया है, वह एक सप्ताह में दस हज़ार ईंटें बनाकर दे देगा। घर का काम शुरू करा दो।" मैंने उनका एहसान माना। कुरसी से उठकर हाथ जोड़े। एक बार ठाकुर साहब को देखा, फिर उनके लड़के को। दोनों में कितना अन्तर है ! …मैं आया किसी और बात के लिए था, हो कुछ और गया।

शाम को केतकी के साथ पिक्चर गया। बच्चे उछल-कूद मचाते रहे और पिक्चर का आनन्द लेते रहे। केतकी भी शायद खुश थी। परन्तु मेरा मन मंजरी की कोठरी पर था, कहीं आज फिर रमेश न पहुंच जाए।

रात को नींद नहीं आई। मैंने आधी रात के लगभग केतकी को उठाया। पहले वह झल्लाई, पर फिर हंस भी पड़ी। मैंने कहा—"मुझे नींद नहीं आती।"

उसने कहा—"उसकी याद आ रही होगी।"

मैंने केतकी को अपने में समेट लिया। बोला—"हां, मंजरी की याद आ

रही है, पर तुम घबराती क्यों हो ? तुम चाहे लड़ो-झगड़ो, मेरी पत्नी हो, पत्नी बनी रहोगी। हमने अग्नि के चारों ओर फेरे लगाए हैं, उसे साक्षी माना है। उसके सामने प्रतिज्ञा की है। इस प्रतिज्ञा को हममें से कोई भी तोड़ेगा तो वही अग्नि हम दोनों को जला देगी।"

उसे शायद संतोष हुआ था। उसने अपनी देह ढीली कर दी थी और फिर हमारी बातें कहीं खो गई थीं।···थोड़ी देर के बाद मैंने फिर रमेश का सारा किस्सा सुनाया। ठाकुर रामसेवक की दरियादिली बताई। मैंने सब-कुछ साफ-साफ कह दिया। कुछ छिपाकर मैं रखना नहीं चाहता था। हमें हमेशा साथ रहना है, कब तक दुराव रखा जा सकेगा। मैंने यह भी बता दिया कि मंजरी की मदद करना ज़रूरी है। मैं उसे एक रास्ते पर लगाना चाहता हूं, ताकि वह फिर गलत रास्ते पर न जाए और गलत लोगों की चाल में न फंसे। वह कुछ बोली नहीं, सब सुनती रही। बराबर हुंकारी भरती रही। मैंने अन्त में पूछा—"तुम मेरी पत्नी हो, बताओ मैं क्या करूं ?"

उसने तुरन्त कह दिया—"यहीं लाकर रख लो !" इसके बाद वह ज़ोर से हंस भी पड़ी—"समाज-सुधार ऐसे ही तो किया जाता है।"

मैं समझ गया। अब यहां बातें करना व्यर्थ है। मैंने कहा—"अच्छा, सो जाओ !"

उसने कहा—"बुरा मान गए ? मैं मज़ाक नहीं कर रही। यहां न भी लाओ तो रमेश मंजरी का कुछ नहीं कर सकता। नारी में एक तेज होता है। रमेश तब तक उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता, जब तक वह न चाहे। वही समर्पण करने लगे तो बात और है। पर तुम मेरी बात क्यों मानोगे, तुम क्या कम शक्की हो ! मैं भूली नहीं···!"

मैंने उसे रोक दिया—"वह सब भूल जाओ, केतकी। अब मैं वह नहीं हूं। मैं अब तुम्हारी मदद चाहता हूं। मंजरी का उद्धार तुम्हीं कर सकती हो।"

उसने मुझे वचन दे दिया। मैंने आज पहली बार केतकी का यह नया स्वरूप देखा। वह पूरी रात बड़े मजे में बीती। मुझे भरोसा नहीं था, वह इस तरह समझौता करेगी।

सुबह जब मंजरी के यहां पहुंचा तो वह फिर परेशान थी। बेचैन वह कमरे में यहां-वहां घूम रही थी। उसने बताया कि मालगुज़ार का लड़का रमेश रात को

फिर आया था। आज उसने दरवाज़ा नहीं खोला। वह बराबर दरवाज़ा खुलवाने का आग्रह करता रहा। फिर वह बाहर बैठा खिड़की से देखता रहा। कहता था—"लैला के लिए मजनूं ने क्या-क्या नहीं सहा। देखता हूं, कितने दिन प्रतीक्षा कराती हो।"

सुनकर मेरा खून सूख गया। अहिंसा का यह रास्ता मंजरी के लिए खतरनाक है। वह भी आखिर नारी है। उसमें मनुष्यता है। मनुष्य की पाशविक वृत्तियां कब जागरित हो जाएं, कोई नहीं जानता, मैं स्वय नहीं जानता। और यदि एक बार मंजरी का पैर फिर गिरा तो फिर उद्धार असम्भव होगा। मेरा मस्तिष्क घूमने लगा। मैंने अपने हाथों से सिर पीट लिया। तभी अचानक एक विचार मेरे मन में आया, लेकिन मैंने मंजरी से कुछ नहीं कहा। मैंने इतना ही कहा—"मंजरी, एक नाटक करने जा रहा हूं, घबराना नहीं। मैं अभी वापस आता हूं।" मैंने मंजरी को कुछ सोचने का समय नहीं दिया और चला गया।

सूरज तब तेज़ हो रहा था। गांव के बहुत-से लोग अपने-अपने काम में जा चुके थे। मालगुज़ार की बखरी के पास पंसारी की एक दूकान थी। मैंने उससे बीड़ी का बिंडल खरीदा। पैसा लेते हुए उसने कहा—"सुना है, इस गांव में कोई पंछी आया है!"

वह मेरी तरफ देखने लगा। मैंने उत्तर देना ठीक नहीं समझा। उसने फिर कहा—"ठाकुर साहब, आपने देखा नहीं, वरना आप भी अपने होश-हवाश खो बैठते। रमेश बाबू ··!"

रमेश का नाम सुनकर मैं ठहर गया—"क्या हुआ रमेश बाबू को?"

"अरे, वे तो उसके पीछे पागल हैं।"

"क्या कहते थे वे?"

"यही कि ऐसी चीज़ एक सपना है।"

दूकानदार थोड़ा ठहर गया, फिर बोला—"आप भी देख लें ठाकुर साहब, एक बार उसे! सचमुच कभी भूलेंगे नहीं।"

मैंने उससे पूछा—"तुमने उसे देखा है?"

उसने बताया कि उसने देखा तो नहीं, परन्तु उसका घर ज़रूर देख आया है। एक बार मालगुज़ार का लड़का अपने साथ उसे ले गया था। दोनों ने उसके घर के एक-दो चक्कर काटे थे। एक-दो बार खिड़की से झांकने की कोशिश भी

की थी, परन्तु भीतर उन्हें कुछ दिखाई नहीं दिया। शाम का समय था और आने-जाने वाले काफी थे, इसलिए वे दोनों लौट आए थे।

उसकी बात सुनकर मैंने अपने दांत पीसे, परन्तु ऊपर से मुसकराकर मैं आगे बढ़ गया।

दालान पर ही रमेश बैठा चाय पी रहा था। मुझे देखकर वह झिझका। उसके मन का अपराध जैसे उसे भयभीत कर रहा था। लड़खड़ाते हुए उसने कहा—"बैठिए, ठाकुर साहब !"

मैं बैठ गया। उसी समय उसने किसी नौकर को आवाज़ दी और चाय मंगाई। मैंने उसे रोकते हुए कहा—"रमेश बाबू, चलो मंजरी के यहां चलें। वहीं चाय पिएंगे।"

रमेश ने एक ही घूंट में सारी चाय पी ली थी। इसके बाद उसने बहाने बनाना शुरू कर दिया था। उसे कहीं काम से जाना है। फिर पिताजी से भी पूछना होगा, परन्तु मैं भी आखिर पीछे लगा रहा और रमेश को मेरे साथ जाना पड़ा।

घर पहुंचा तो मंजरी काफी व्यवस्थित थी। कमरा साफ-सुथरा था। मैंने उससे कहा—"ये हैं अपने मालगुजार साहब के बड़े लड़के, रमेश ! हमारे मालिक हैं। इनकी शरण में ही हम रहते हैं !"

मैं देख रहा था, रमेश ज़मीन की ओर देख रहा है। बोला—"अब ऐसी बात नहीं है; कभी हम मालगुजार थे, अब तो सबकुछ हाथ से जा रहा है। सरकार को न जाने क्या हुआ है, वह हमें बरबाद करने में लगी है।"

इसी बीच मंजरी भीतर से तीन कप चाय ले आई। मैंने उससे कहा—"अपने हाथ से रमेश बाबू को चाय दो।"

मंजरी के हाथ से चाय लेते हुए रमेश का हाथ कांप रहा था। वह उसी तरह नीचे देखे जा रहा था।

चाय पीते हुए मैंने ही बात शुरू की—"रमेश, देखो, यहां हम तीनों हैं। मंजरी हमसे अलग नहीं है। ठाकुर साहब की ही कृपा है कि उसके लिए इतना कुछ हो पा रहा है। इसलिए हम सारी बातें खुलकर कर सकते हैं।"

इसके बाद मैंने मेलगाड़ी की रफ्तार से सब कुछ कह दिया। रमेश को याद दिलाया कि उसके भी पत्नी और लड़के हैं। उसके पिता समाज के उच्चतम

व्यक्ति हैं। सारे गांव में उनकी बराबरी का कोई नहीं है। मंजरी तो एक साधारण लड़की है। मुसीबत में फंसी हुई ऐसी लड़की है, उसे जिस रास्ते में चाहो ले जाया जा सकता है। वह सही ढग से रहना भी सीख सकती है और कोठों को भी फिर आबाद कर सकती है।

रमेश सब-कुछ गुमसुम सुनता रहा। मंजरी के चेहरे पर परेशानी साफ देखी जा सकती थी। वह स्वाभाविक भी था, उसे क्या पता कि मैं क्या कहने जा रहा हूं। मैंने तय कर लिया था कि आज इस समस्या का हल खोज-कर रहूंगा।

अन्त में मैंने जोर देकर रमेश से एक प्रश्न किया—"रमेश बाबू, आप मंजरी से शादी करेंगे ?"

उसका पूरा शरीर सूखे झाड़ पर लगी एक पत्ती की तरह हिल उठा। वह यहां-वहां देखने लगा। मैंने फिर कहा—"मैंने गलत बात नहीं कही है, रमेश बाबू। आप पैसेवाले हैं। भगवान का दिया आपके पास सब-कुछ है। आप जैसे धनिकों ने हमेशा कई विवाह किये हैं। आप चाहें तो मंजरी से विवाह कर सकते हैं। वह सुन्दर है और ··!"

"ठाकुर साहब · !" रमेश जोर से चिल्लाया और फिर उसके शब्द लड़-खड़ा कर उसी के भीतर रह गए।

—'आप कहें तो दादा से मैं बात करूं। ठाकुर साहब का मन इतना संकुचित नहीं है। वे अपने बेटे को दुखी नहीं देखना चाहेंगे।"

मेरे इस प्रस्ताव को सुनकर वह खड़ा हो गया। मुझे अब क्रोध आ गया। मैंने उसका हाथ पकड़कर उसे जबरन बैठाला—"तुम्हें इसका जवाब देना पड़ेगा, रमेश।"

उसने हाथ छुड़ाने की कोशिश नहीं की। मैंने अपने गले में जोर देकर कहा—'यदि तुमने ऐसा नहीं किया तो मैं तुम्हें बदनाम कर दूंगा। मंजरी का क्या बिगड़ेगा ? उसका जो बिगड़ना था बिगड़ चुका।"

मैंने देखा रमेश परेशान हो रहा था। मैं उठकर खड़ा हो गया, तो उसे बल मिला। मैंने उसके कंधे पर हाथ रखा और उसके साथ बाहर आ गया। मैंने कहा—"रमेश. बुरा न मानना, हमें मंजरी की मदद करनी है। ऐसा न किया तो वह फिर कोठों पर नजर आएगी। वह अच्छे घर की लड़की है। तुमने

देखा है, वह खूबसूरत है और···।"

रमेश आगे बढ़ गया था। मैंने अन्त में उससे इतना ही कहा कि उसकी रक्षा करना उसका भी काम है।

रमेश ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया और वह चला गया। धीरे-धीरे उसके पैर तेज़ होते गए और फिर मुझे लगा जैसे वह अचानक दौड़कर भाग रहा है।

भीतर आया तो मंजरी सिसक रही थी। अन्दर आते हुए मैंने दरवाज़ा बन्द कर दिया और तभी मंजरी आकर मुझसे लिपट गई। वह और तेजी से रोने लगी और मैं उसे समझाता हुआ उसके सिर पर हाथ फेरता रहा।

१२

मंजरी : फिर रास्ते

उस दिन से रमेश फिर कभी मेरे सामने नहीं आया। चोरी-छिपे वह मुझे जरूर घूरता रहा, परन्तु उससे क्या! ऐसे कितने हैं जो औरतों को घूरने के आदी हैं। उसके पिता ठाकुर रामसेवक बड़े दयालु हैं। निरंजन के कहने पर उन्होंने एक कमरा मेरे लिए बनवा दिया है। यह नया मकान छोटा है, किन्तु सुन्दर है। मुझे खुशी इस बात की है कि यह विशेष रूप से मेरे लिए बना है।

ठाकुर साहब सुबह-शाम घूमने के आदी हैं। आते-जाते वे मेरे घर होते जाते हैं और मेरा सुख-दुख पूछ लेते हैं। उनके आने से एक बड़ा लाभ हुआ है, गांव-भर के लोग सतर्क हैं और अनायास कोई हरकत करने में भय खाता है। उनके शब्द मुझे अब भी याद हैं।

उन्होंने एक दिन कहा था—"तुम मेरी दूसरी बेटी हो। सुखी रहो और फलो-फूलो, यही मैं चाहता हूं।"

यह वाक्य अक्सर वे दोहराया करते हैं। रात के अंधेरे में जब मैं अकेली होती हूं, इस वाक्य को याद कर सिसकने लगती हूं। मुझे अपना घर याद आ जाता है। मेरे पिता··मां···भाई···सभी मेरे बारे में सोचते होंगे। अब तक सब ने सोच लिया होगा कि मैं मर चुकी हूं। शायद मेरे नाम से क्रिया भी कर डाली हो।

मेरे साथ जो कुछ हुआ, भाग्य का छल है। वहां वापस जाऊं तो कौन मुझे स्वीकारेगा। मेरे परिवार में कालिख ही तो लगेगी, इसलिए वह घर अब भूल गई हूं। मैं अब सब तरफ से कटी हुई एक ऐसी इकाई हूं, जिसके आगे-पीछे कोई संख्याएं नहीं लग सकतीं। ऐसी हालत में ठाकुर साहब की फलने-फूलने वाली बात और काट जाती है।

मेरा एकमात्र आसरा निरंजन है। उसने मेरी जिंदगी की गति बदल दी। उसका एहसान मैं कभी नहीं भूल सकती। उसकी छाया और उसकी प्रतीक्षा ही

मेरा सहारा है। सुबह से उसके आने की राह देखती हूं। जब भी वह आ जाता है मेरा राह देखना सफल हो जाता है। लेकिन मैं यह भी जानती हूं कि निरंजन की अपनी सीमाएं हैं। वह जो कुछ कर रहा है, वही बहुत ज़्यादा है। इससे ज़्यादा अपेक्षा करना अच्छा नहीं है…।

निरंजन की 'प्रतीक्षा' के बावजूद सूरज ढलते ही मैं विकल हो उठती हूं। मेरी तपन बढ़ जाती है। शाम इस तरह झुकती आती है कि दर्दीले तलुओं का एक पूरा संसार खड़ा हो जाता है। रात का आवार-अंधेरा मुझे लील जाना चाहता है। चारों ओर सांय-सांय करती भयानक रात और मैं एक कैदी की तरह बंद! सन्नाटे में मेरे भीतर की आवाज़ ही मुझे घेर लेती है। वे सारी अवांछित आवाज़ें बूढ़े प्रहरी की जानलेवा खांसी की तरह मुझे परेशान करती हैं। मैं अपने-आप चिल्ला उठती हूं—"यह अंधेरा मुझसे बर्दाश्त नहीं होगा।" लेकिन कौन है मेरी आवाज़ सुनने वाला!

किसी तरह दोनों कानों और आंखों को बंदकर बिस्तर पर पड़ जाती हूं तो गंजा बिस्तर मौसम की मार से आक्रांत कर देता है। सारी-सारी रात करवटें लेती रहती हूं। नींद घबराती हुई कांपती रहती है। अकेले सोना भी कितना दुखदाई है! बिस्तर के सूनेपन में करवटें लेना कितना बेमानी है! मेरा मन होता है, मैं आवाज़ देकर निरंजन को बुला लूं और उसकी देह के साथ इस तरह लिपट जाऊं कि वह मेरी देह न रह जाए।…लेकिन यह सब एक सपना लगता है। निरजन की सीमाओं को देखते हुए मुझे कोई ऐसा व्यक्ति ढूंढ़ना चाहिए, जिसकी सीमाएं न हों। जो केवल मुझसे बंधा हो, इसलिए नहीं कि मुझे पुरुष की प्यास है, इसलिए नहीं कि पुरुष का सम्पर्क पाकर मैं अपना नारीत्व धन्य करना चाहती हूं, मैं केवल इसलिए उसका साथ चाहती हूं ताकि इस तूफान-भरे गहरे सागर से पार उतरने में वह मेरे साथ रहे। वह मेरा मित्र हो। मेरे दुःखों के गरल को शकर की भांति पी सके। इस अंधेरे से वह लड़ सके, उससे मुझे बचा सके।

एक दिन मैंने निरंजन से कहा—"निरंजन, अकेल मुझे अच्छा नहीं लगता। गांव के लोग मुझे सीधी नज़रों से नहीं देखते। न जाने वे क्या सोचते हैं? उनके मन में क्या है? सबकी आंखें मुझे घूरती-सी दिखाई देती हैं।"

उसने मुझे साहस बंधाया—"यह तुम्हारा भ्रम है, मंजरी। इस भ्रम से बचो।"

मैं आगे क्या कहती। मैं उसे कैसे समझाऊं कि यह सारा गांव मेरा दुश्मन है। मैं इस गांव में एक कांटे की तरह हूं।

ठाकुर रमेशसिंह ने आना भले छोड़ दिया है, परन्तु जब कभी अपने साथियों के साथ निकलता है तो मुझे सुनाकर जाने क्या-क्या बक जाता है। एक दिन अपने दोस्तों से कहता था—"दादा अमरौती खाकर तो आए नहीं। देखूंगा, कब तक छाया रखते हैं।"

मैंने यह भी सुना था कि वह गांव-भर में मेरे बारे में अंट-संट बकता रहता है। गांव के लोग मुझे व्यभिचारिणी समझते हैं। मुझे वेश्या कहते हैं। कई को मैंने कहते सुना है कि यह निरंजन की रखैल है। निरंजन अपने दोस्तों को भी यहां लाता है। सब मिलकर मेरे कमरे में मौज उड़ाते हैं। मैं उनसे कैसे बताऊं कि मैं निरंजन की रखैल नहीं हूं। उसकी दासी हूं, एक बड़े देवता की पुजारिन हूं। इस गांव में है कोई, जो निरंजन बन सके! लेकिन यह सब क्या एक मन-बहलावा नहीं है? इसके बीच कहीं सचाई नहीं छिपी?

निरंजन प्रायः रोज़ मेरे पास आता है। मेरे पास घंटों बैठता है। कभी-कभी रात को भी ठहर जाता है। जिस दिन ठहरता है, मेरा भय दूर भाग जाता है। मैं चाहती हूं, उसे अपनी पलकों में बन्द कर लूं। पर, काश यह हो सकता!

अकेलापन, ज़िन्दगी के मरण के क्षण हैं। वे क्षण आते ही पुरानी स्मृतियां ताज़ी हो जाती हैं। मेरा गांव, मेरी बहनें, मेरे माता-पिता सब सामने आ जाते हैं। बचपन जाग उठता है। फिर सपनों की कतार-सी सरकती है। मैं शहनाई सुनती हूं, कहारों के गीत सुनती हूं। अपने बूढ़े पति की बातें सुनती हूं। इसके बाद ही उनका अंतिम चेहरा सामने उतर आता है। मन विषाद से भर जाता है। तब फिर मैं अपने को अंधेरी कोठरी में पाती हूं। मुझे ज़ेबुन्निसा याद आ जाती है। आज वह कैसी होगी? मैं वहां रहती तो··! कलेजे का खून मुंह में उतर आता है। मैं लैम्प की बाती तेज़ कर देती हूं और उठकर बैठ जाती हूं।

सोचती हूं, नारी और पुरुष का सम्बन्ध क्यों अनिवार्य है? उसे शाश्वत क्यों कहा गया है? क्या ये दोनों अपनी-अपनी भूख मिटाने के लिए मिलते हैं? कहते हैं, भूख की एक सीमा होती है। यदि यह सत्य होता तो दुनिया में सम्बन्धों की भी सीमा होती, किन्तु वास्तव में यह एक अनंत भूख है। क्या बिना पुरुष के कोई नारी नहीं रह सकती? हिन्दू धर्म में पातिव्रत धर्म की बात कही गई है।

एक बार वरण करने के बाद नारी छूत हो जाती है। वह काठ की हांडी है, जो दोबारा आग पर नहीं चढ़ सकती। चढ़ेगी तो स्वयं जलेगी। मैं सोचती हूं, इस कहने में क्या सार है ? क्या सचमुच दोबारा चढ़ने पर नारी जल जाती है ? एक नहीं, अनेक प्रश्न मेरे मस्तिष्क में उतरते हैं। मैं उन प्रश्नों के जाले में मक्खी की तरह अपने को फंसा देती हूं। इससे आगे मेरी कुंठा उभर आती है। विवश होकर मैं अपने बालों को नोच डालती हूं और अपना सिर पीट लेती हूं।

पूर्णमासी की रात थी। चन्द्रमा खूब खिला था। उसकी किरणें खपरैल घर की छत से उतरकर मेरे ऊपर पड़ रही थीं। कल निरंजन आया था। कहता था—"पूर्णमासी को तेरे लिए मलाई लाऊंगा।" चांदनी में नहाई मलाई के खाने से शरीर के तन्तु पुष्ट होते हैं। वह बड़ी स्वादिष्ट होती है। उसके यहां आज सत्यनारायण की कथा होगी। पिताजी अक्सर कथा कराया करते थे। कहते थे—"कथा सुनने से पुण्य मिलता है। इस कलियुग में सत्यनारायण का पूजन ही सार है। कथा से ज़्यादा पुण्य प्रसाद के खाने मे है। कहीं कथा हो रही हो तो राजा भी प्रसाद पाने के लिए ठहर जाता है। न ठहरे तो पल-भर में रंक बन जाए।"

लीलावती की कहानी मूझे पूरी तरह याद है। मैंने कितनी बार कथा सुनी है ! कितना प्रसाद खाया है ! पर·· पर आज का प्रसाद ज़रूर मेरे लिए अमृत सिद्ध होगा। भगवान परीक्षा भी तो लिया करते हैं। परीक्षा में पहले पास होना जरूरी है। मैं चातक की तरह उसकी प्रतीक्षा करती रही। मैंने बाहर आकर देखा, चांद एक सीढ़ी नीचे उतर आया था। चांदनी की उड़ती रेत में मेरे मकान के बाहर नंगा खड़ा बबूल का झाड़ प्रश्नवाचक बन गया था। गांव के कुत्ते भौंकने लगे थे। एक लम्बी सांस लेकर मैं भीतर आ गई और दरवाज़ा बन्द कर बिस्तर पर लेट गई।

तभी सांकल बजी। हिरनी की तरह उछाल भरकर मैं दरवाजे के पास पहुंच गई। बिना कुछ पूछे ही उमंग से मैंने दरवाज़ा खोला। मुझे विश्वास था कि निरंजन ही ऐसे रात में आ सकता है, किन्तु दरवाज़ा खोलते ही पता चला कि स्थिति और है। तीन-चार आदमी वहां खड़े थे। मैंने उन्हें देखा, शायद इनमें निरंजन हो। पर···! एक ने झपटकर मुझे उठा लिया। दूसरे ने मेरे मुंह में कपड़ा ठूंस दिया। चारों मुझे नदी के किनारे ले गए। चांदनी नदी के पानी

और किनारे की रेत पर अचेत पड़ी सोई थी। उसी रेत पर मैं भी अचेत डाल दी गई। मुझे बोलने का किसी ने अवसर नहीं दिया। मेरे चारों ओर सभी लोग खूब हंसते रहे।

एक कहता था—"हज़ार चूहे खाकर बिल्ली तीरथ करने चली है।"

दूसरे ने कहा—"क्या हम जानते नहीं, यह बदमाश कहां से लाई गई है ?"

तीसरे ने कहा—"रहती तो हमारे गांव में है, आशिक बाहर से बुलाती है।"

चौथा बोला—"वह बनिया निरंजन ! खुद मौज उड़ाता है और अपने दोस्तों को भी लाता है और यह सती-सावित्री बनती है · हरामज़ादी।"

सब एक साथ हंसे। उनकी हंसी मेरे कलेजे में बरछी की तरह बिंधी।

एक ने दांत पीसे। बोला—"कल मालिक से सब बात बताई जाए। हम देखते हैं, निरंजन कैसे यहां से ज़िंदा जाता है।"

उनमें से एक ने मेरी छाती पर हाथ रखा। बोला—"बहुत हसीन हो रानी ! हमारे साथ रहो तो ज़िन्दगी का लुत्फ़ मिले। हम सब तेरे हैं।···डरो मत !"

मैंने एक तमाचा उसके गाल में जड़ दिया। बोली—"मुझे छोड़ दो, वरना···!"

चांटा मारते ही चारों भूखे भेड़िये की तरह मुझ पर टूट पड़े। सब ने मिलकर उस नंगी रेत पर मेरी नंगी देह के साथ जो कुछ बन पड़ा, किया। उस समय की कहानी कैसे बताऊं ? जब सवेरा होने को आया तो वे मुझे फिर मेरे कमरे में छोड़ गए। कह गए—"हम कल फिर आएंगे, तब तक सोच लेना, क्यों व्यर्थ रेत तक जाने का कष्ट उठाना पड़े।"

तब मेरी देह टूट गई थी, हर अंग शून्य था और मैं निर्जीव हो गई थी।

बहुत सवेरे निरंजन आया। मेरा पूरा शरीर अस्त-व्यस्त था। उसके आते ही मैंने दांत पीसे। उसका हाथ पकड़कर मैंने कहा—"अब मैं तुम्हारे पास नहीं रहूंगी। कुत्ते कहीं के, कमीने···!"

मैं न जाने क्या-क्या बक गई। वह आंखें फाड़े सब सुनता रहा। वह अब भी शान्त था। बोला—"कल नहीं आया, तो इतना गुस्सा ! मेरी छोटी लड़की कल नहीं रही, मंजरी।"

"नहीं रही तो मैं क्या करूं। वह तेरी बेटी है···" मैं लेकिन···उसी समय संयत हो गई।

"क्या ?"—मैंने मुंह फाड़ दिया।

"हां !"—उसने कहा और अपने आंसू पोंछे—"दो दिन से बीमार थी, कल चली गई।"

अपने हाथ में वह एक पुड़िया लिए था। उसने वह मेरी ओर बढ़ा दी। बोला—"यह सत्यनारायण का प्रसाद खा लो। पूजा खतम होते ही बिटिया भी खतम हो गई।"

मैंने वह प्रसाद हाथ में लिया और उसे खोलकर देखा। कुछ देर मैं देखती रही। फिर अपने-आप मेरे हाथ उठ गए। प्रसाद मैंने कमरे की खिड़की पर रख दिया। उसे खाने का मन नहीं हुआ। खाने से क्या मिलेगा ?

निरंजन परेशान था। अपना दुःख मैं भूल गई थी। उसने कहा—"मुझे दुख नहीं है। लड़की एक भार होती है, चली गई तो भार ही उतरा। पर उसकी मां नहीं मानती। सारा घर काट रहा है। वह दिन-रात रोती रहती है।"

थोड़ी देर निरंजन मेरे पलंग पर सीधा लेटा रहा। वह आंखें बन्द किए था। मैं उसके सिर पर हाथ फेरती रही। फिर वह बोला—"ठाकुर साहब से मिलकर चला जाऊंगा। शायद एक-दो दिन न आ सकूं।"

उसके इस दुःख में भी मैं अपने को न रोक सकी। मुझे लगा, मेरा दुःख उससे बड़ा है। जो चला गया सो मुक्त हो गया। जो जीवित है, यातनाओं के जाल उसे और जकड़ेंगे। मैंने कहा—"मुझसे आज अच्छी तरह मिल लो निरंजन। यह मंजरी कल तुम्हें नहीं मिलेगी।"

मेरी आंखों में आंसू आ गए थे। मैंने अपने को बहुत रोकना चाहा था, पर जब हृदय पर भार बढ़ जाता है, रोके नहीं रुकता। मैं सिसक उठी। निरंजन ने मेरा दर्द पहचाना। मुझे सहारा दिया। मैं अब उसकी गोद में थी। सिसकते-सिसकते मैंने कल का सारा किस्सा कह दिया। सुनकर उसने दांत पीसे और मुझे ढकेलते हुए वह उठ बैठा।

मैंने उसके हाथ पकड़ लिए—"मेरी सौगंध जो बाहर गए। तुम उनका कुछ नहीं कर सकते, निरंजन। तुम कुछ करने जाओगे तो अपनी जान खो दोगे। मुझे और मुसीबत में डालोगे। एक का विरोध सरल है। पर जहां सब मिल जाएं, वहां विरोध कठिन हो जाता है। मैं समझती हूं, इसमें भी रमेश का हाथ है।"

निरजन चुप बैठ गया। शायद कुछ सोच रहा था। थोड़ी देर के बाद बोला—"ठाकुर साहब के कान में बात क्यों न डाल दी जाए।"

मैंने कहा—"व्यर्थ है। ठाकुर एक है, रमेश अनेक हैं। तालाब के पानी को गंदा करने के लिए एक मछली काफी होती है।"

"फिर ?"—उसने मुझे देखा।

मैंने उसकी आंखों में एक विवशता देखी। मैंने कहा—"तुमने एक गलत औरत का उद्धार किया है, निरंजन। अब मैं तुमसे एक मदद और चाहती हूं।"

उसने कहा—"वह क्या ?"

मैंने उसके पैर पकड़ लिए। बोली—"तुमने मुझे उबारा है। तुम मेरे देवता हो। मैं अब तक तुम्हारी शरण में रही। तुमसे जो पाया है, वह अमृत था, परन्तु तुम्हारा अमृत मेरा शरीर हजम करने योग्य नहीं है। आदमी भीख भी किसी पात्र को देता है। तुमने अपात्र की मदद की है। मैं इस योग्य नहीं हूं, जैसा तुम समझते हो।"

मैंने अपने आंचल का छोर उसके सामने फैला दिया—"निरंजन भेड़िये कहां नहीं हैं। मुझे जेबुन्निसा की बात याद आती है। कितनी बुद्धिमान थी वह ! कहती थी, जंगलों के खुले भेड़ियों से ये पालतू भेड़िये क्या बुरे हैं ! वह सच कहती थी, बिलकुल सच ! मैं तुम्हारे सामने आंचल फैलाकर भीख मांगती हूं। मुझे वहीं भेज दो, जहां से लाए हो।"

निरंजन ने मुझे देखा। फिर मेरे दोनों हाथ ज़ोर से पकड़कर मुझे झकझोर दिया। बोला—"सच कहती हो ?"

मैंने अपना मन कड़ा किया और उसे पत्थर बनाने की कोशिश की। मैं तन-कर खड़ी हो गई। बोली—"हां, इसलिए कि अपनी हत्या आप करना आसान नहीं है। यह काम हर कोई नहीं कर सकता।"

उसने उठकर दो-चार चांटे तड़ातड़ मेरे गालों पर जड़ दिए और तेज़ी से मेरे कमरे के बाहर चला गया। मैं वहीं बैठी रही। मैंने बाहर निकलकर उसे देखने की भी कोशिश नहीं की।

घंटे-भर बाद वह लौटकर आया। मैं तब भी उसी तरह बैठी थी। उसके आते ही मैं उससे लिपट पड़ी और खूब रोई। मैं रोती रही और वह चुप रहा। मैंने जब सिर उठाया तो देखा उसकी आंखें जैसे पथरा गई थीं। मैंने कहा—"मैं

ग्रौर क्या करूं, तुम्हीं बताग्रो ! मैं एक विधवा हूं। मैं वैधव्य में रहकर भी ज़िन्दगी काट सकती हूं, पर ग्रब मुझे कौन स्वीकारेगा ? सनातनी मुझे नहीं स्वीकारेंगे। मैं मुसलमान हो जाऊं तो मुझे शरण मिल सकती है । मैं ईसाई बन जाऊं तो मेरी ज़िन्दगी बदल सकती है, पर मैं यह कुछ नहीं बनूंगी। धर्म ग्रौर जाति के बन्धन सत्य से दूर हैं। मैं वहां जाना चाहती हूं जहां कोई धर्म नहीं होता। जहां जात-पांत का भेद नहीं है। सब एक जाति के हैं। जहां सब ग्रादमी हैं। जहां भेड़िये नहीं हैं। ढोंगी ग्रौर पुरातनपंथी नहीं है। ग्रौर इस दुनिया में ऐसी कोई जगह ग्रभी बनी नहीं है। मरना ग्रासान नहीं है। फिर इतना कुछ देखा है तो बचा हुग्रा ग्रौर क्यों न देख लूं। सारे पाप इसी देह से हो जाएं तो फिर ग्रगली देह के लिए कुछ शेष न रहे। मैं नरक की यातना भोग रही हूं। यही पूरी कर लूं तो फिर शायद स्वर्ग का दरवाज़ा खुल जाए। सीमा का ग्रतिक्रमण, दूसरी दिशा के द्वार मुक्त करता है। मैं सीमा के चरम लक्ष्य पर पहुंच जाना चाहती हूं। और निरंजन, बुरा न मानो तो मैं साफ कहूं, उस लक्ष्य को ग्रपनी पुरानी जगह में रहकर ही पा सकती हूं। वही सलीम, वही रशीदा, वही ज़ेबुन्निसा, वे ग्रमृतघट। वह छूमछनन् छन् ! ग्रौर वे ग्राहक···! पत्थर भी वहां मोम बनकर ग्राते हैं। हर कोई प्यार से बातें करता है। उनका प्यार झूठा भले हो, पर होता मीठा है। मैं भले बिगड़ जाऊं, वे कभी न रूठेंगे, कभी नहीं ! तुमने मुझे चांटे मारे हैं। तुम्हारे चांटों को खाकर मेरा शरीर धन्य हो गया। कम-से-कम मुझे ग्रपना तो समझते हो, इसीलिए तो तुमने मारा है। पर निरंजन, इस दुनिया के हाथ बहुत लम्बे हैं। हम ग्रौर तुम उससे लोहा नहीं ले सकते···नहीं ले सकते !"

निरंजन की ग्रांखें फटी रह गईं। यह ऊपर शून्य को ताकता रहा। उसने मेरी बातें सुनीं, परन्तु कुछ न बोला। बोलता भी क्या ? उसका मार्ग ग्रवरुद्ध हो गया था। वह लड़खड़ा गया था। ग्रागे ग्रंधेरा था, गहरा ग्रंधेरा, ग्रछोर ग्रन्धकार !

मैं कपड़े समेटने लगी। मैंने कहा—"वे ग्राज फिर रात को ग्राएंगे। ग्राज की रात मैं इस गांव में नहीं रह सकती। यह मेरा दृढ़ निश्चय है, निरंजन।"

वह तब भी कुछ न बोला। मैंने पूरा सामान बांध लिया। वह घर मेरे नाम था। मैंने उसका पट्टा निकालकर फाड़ डाला। वे फटे कागज़ उसकी ग्रोर बढ़ाते

हुए मैं बोली—"इनमें एक तीली छुला दो।"

उसने नज़रें उठाईं और मुझे देखा। वह मुझे लगातार देखता रहा। शायद वह मेरे दृढ़ निश्चय की सीमा तौलना चाहता था। मेरा चेहरा अब पत्थर बन गया था। आंखें सारे आंसू पी चुकी थीं। मेरी निर्भीकता देखकर शायद वह कांप उठा था। वह खड़ा हो गया। बोला—"चलो, बिस्तर मुझे दे दो।"

मैंने बिस्तर उसे थमा दिया। दरवाजे से बाहर निकलने के पहले मैंने उसके पैर पड़े। मेरी आंखों से दो गरम बूंदें लुढ़क गईं। वह अचल पैर पड़ाता रहा, कुछ बोला नहीं।…इसके बाद हम दोनों उस घर से बाहर निकल गए।

बस्ती खामोश थी। दुबके हुए कुत्ते भौंक भी नहीं रहे थे और उस गांव के रास्ते धूल-भरी सांसों में डूबे हुए थे।

१३

निरंजन : भागती हुई दुनिया

मंजरी को मैं अपने घर ले आया। करता क्या? दूसरा रास्ता मेरे सामने था ही नहीं। वह लौटकर फिर चकले में जाए, इससे बड़ी मेरी और क्या हार हो सकती है। जिन्दगी में मैंने कभी हार नहीं मानी। हर बड़ा काम एक चुनौती मानकर पूरा किया है। मंजरी की रक्षा, मेरे लिए जैसे एक चुनौती बन गई। मैं उसे एक सभ्य नारी बनाकर रहूंगा। मैं उसे बाध्य करूंगा कि वह बीच की जिन्दगी भूल जाए। आगे क्या करूं, यह तुरन्त सोचना तो मुश्किल था। वह उस गांव में एक पल नहीं रहना चाहती थी। रहे भी कैसे? मुझे उसे अपने घर ही लाना पड़ा।

कल से घर में मातम की छाया चक्कर काट रही थी। केतकी की हालत मुझसे देखी नहीं जाती थी। मैंने सोचा, मंजरी को पाकर उसे राहत मिलेगी। दुःख में दो हों, तो वह बंट जाता है। हुआ भी ऐसा ही। उसके दुःखों को मिटाने में मंजरी ने बड़ा काम किया। घर का काम-काज वही करने लगी। पर केतकी ने उसे चौके में नहीं जाने दिया। पानी भी वह बचाकर रखती थी। मंजरी भी समझदार थी। उसने इस परहेज के बन्धन नहीं तोड़े। बच्चों के साथ वह हिल-मिल गई। बच्चे उसे चाची कहने लगे।

केतकी उसे घर में रखकर प्रसन्न नहीं थी। घर में मातम न होता तो शायद वह उसे आने भी न देती। वह कट्टर धार्मिक है। रोज़ सुबह-शाम पूजा करती है। छुआछूत मानती है और धर्म पर उसकी अंध मान्यता है।

एक दिन मैंने अकेले में उससे बताया—"यही वह लड़की है।"

वह बोली—"मैं पहले ही जान गई थी। बड़ी सुन्दर है, बड़ी सरल और सीधी है। इसे देखकर कौन कहेगा, यह ऐसी-वैसी है।"

मैंने उसके मुंह पर हाथ रख दिया। बोला—"भगवान के लिए ऐसी-वैसी मत कहो। हर आदमी अपनी इज़्ज़त रखना चाहता है। परिस्थितियां उसकी

इज़्ज़त लूटती हैं। तुम उसकी कहानी सुनोगी तो रो पड़ोगी।"

वह कुछ नहीं बोली। भीतर चली गई। रात को मैंने सुना, दोनों खूब बातें करती रहीं। मंजरी ने शायद अपनी पूरी कहानी साफ-साफ कह दी थी। कहानी सुनकर केतकी को हमदर्दी होनी थी, पर हुआ उल्टा। सवेरे-सवेरे वह मुझपर झल्ला पड़ी। बोली—"एक वेश्या को लाकर रखा है। मैं जानती हूं, उसे तुम मेरी सौत बनाना चाहते हो।"

वह यह सब-कुछ ज़ोर से कह रही थी। मुझे डर था, कहीं मंजरी सुन न ले। मैं वहां से चला गया। केतकी ने यह बात घर की नौकरानी से भी कह दी। फिर क्या था, वह चारों ओर फैल गई, और स्वयं केतकी पर पहले मुसीबत आई। पड़ोस की औरतों ने उससे ही बात करना बन्द कर दिया। औरतें भी कितनी मूर्ख होती हैं, अपने पैर में खुद कुल्हाड़ी मारती हैं। किसी बात को पचाना उनके लिए मुश्किल है। मैं मंजरी को वहां ज़्यादा दिन नहीं रखना चाहता था। मैंने बम्बई पत्र लिख दिया था। वहां मेरा एक मित्र रहता है। वह एक कालेज में प्रोफेसर है। उसको लिखा था कि वह बम्बई में रहने का कहीं-कुछ प्रबन्ध करे तो हम आ जाएं। बम्बई बड़ा शहर है, वहां कोई एक-दूसरे को इस तरह नहीं देखता।

लेकिन यहां पहले ही आग लग गई। केतकी ने मुझसे अकेले में कहा—"देखो, तुम बाहर जो चाहो सो करो, मेरे घर में यह सब नहीं चलेगा। मंजरी अब यहां नहीं रह सकेगी। सारे मोहल्लेवाले तिरछी आंखों से देखते हैं। लाला की औरत तो मुंह पर कह गई। कहती थी—"ऐसा अंधेर नहीं देखा। ठाकुर तो अपनी नाक ऊंची रखते हैं।" उसने मुझे और न जाने क्या-क्या कहा। इतना ही नहीं, आज उसने चाय तक नहीं पी। बोली—"न बहन, अब तुम्हारे घर की चाय मुझे रास नहीं आएगी।"

मुझे गुस्सा आ गया। मैं जानता हूं, लाला अपनी औरत को लेकर होटल जाता है। वहां ये चाय पीते हैं और रोटी भी खाते हैं। होटल में यह काम कौन करता है, किसने देखा है? घर में इतनी जातवाली बनी है! पर केतकी को मैं कैसे समझाऊं? परम्परावादी अंधा होता है। अंधा भला रंग क्या पहचाने! केतकी को समझाना मैंने व्यर्थ समझा।

मैं किसी तरह मंजरी से अकेले में मिला। मैंने उससे ये सब हाल बता दिए।

मैंने यह भी कहा कि मैं उसे पूरी मदद करना चाहता हूं, पर जब तक वह धीरज नहीं रखती, मेरे यत्न सार्थक नहीं होंगे। मंजरी मेरी बात मान गई। बोली—"तुम कहते हो तो मान लेती हूं। दीदी चाहे जो कहें, मैं उत्तर नहीं दूंगी।"

मैंने उसकी पीठ ठोंकी—"शाबाश!"

शाम को हुआ भी यही। केतकी मुझसे तो बिगड़ ही चुकी थी। उसकी कथा सुनकर मैं दूकान चला गया। मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया था, इसलिए वह मंजरी पर बरस पड़ी। उसे कई बातें केतकी ने सुनाईं। उसकी जात-पांत पर कीचड़ उछाला। उसके चरित्र को तो जैसे सूए से छेद डाला। वह सब सुनती रही। उसने बुरा नहीं माना। हां, जब मैं आया, तब ज़रूर उसने कहा—"नीरू, मेरा यहां ज़्यादा रहना तुम्हारे लिए ही हितकर नहीं है।"

—"जो भी हो, अभी रहना पड़ेगा, मंजरी। मैंने आज तार कर दिया है। बस, एक दो दिन की बात है।"

रात को मैंने सुना, दोनों बातें कर रही थीं। मंजरी ने शायद केतकी को मना लिया था। केतकी कह रही थी—"वह तो ठीक है, परन्तु इनके पीछे क्यों पड़ी है? क्या ये तुझे प्यार करते हैं?"

मंजरी ने कहा—"नहीं, दीदी, ठाकुर साहब बड़े उदार और साहसी व्यक्ति हैं। उन्होंने ही मुझे उस गड्ढे से निकाला है। तुम उन्हें खराब आदमी न मानो।"

इसके बाद उसने केतकी को बहुत समझाया। बाद में बोली—"वे मुझे बम्बई छोड़ना चाहते हैं। जगह अच्छी है। मैं सोचती हूं, वहां जाकर कुछ काम-काज कर लूंगी। कुछ पढ़ लूंगी और अपनी ज़िन्दगी बना लूंगी।"

केतकी ने पूछा—"औरत होकर अकेली उतने बड़े शहर में रह लोगी?"

—"क्यों नहीं, दीदी। ये मेरा प्रबन्ध कर ही देंगे। तुम भरोसा रखो, अब मैं नहीं गिर सकती। जितना गिरना था, गिर चुकी।"

केतकी सशंकित थी। शायद मंजरी मुझे अपने प्यार में न समेट ले। उससे न छीन ले। मंजरी ने इसका भी निराकरण कर दिया। मैंने सुना, वह कह रही थी—"धरती की कसम खाती हूं और तुम्हें वचन देती हूं, उन्हें तुमसे नहीं छीनूंगी। कभी नहीं छीनूंगी।"

ठाकुर रामसेवक दोपहर को मेरी दूकान पर आए। बोले—"सुना है, मंजरी

को तुमने किसी को बेच दिया है ?"

मेरे विस्मय का ठिकाना नहीं था। मैं मुंह फाड़े उन्हें देखता रहा। टूटे-से शब्दों में मैंने पूछा—"कौन कह रहा था ?"

—"गांव-भर कह रहा है !"

मेरे दांत कटकटाने लगे। मेरी भुजाएं फड़कने लगीं। बड़ी मुश्किल से मैं अपने क्रोध को संभाल पाया। मैंने कहा—"चलिए ठाकुर साहब, मजरी से मिला दूं।"

ठाकुर रामसेवक नहीं आना चाहते थे, फिर भी मैं उन्हे जबरन ले आया। मंजरी से मैंने उन्हें मिला दिया। बाहर निकलकर वे बोले—"तुमने यह अच्छा नहीं किया। तुम ठाकुरों की जात लजाते हो। हमे दूसरों की मदद करनी चाहिए, पर ऐसे लोगों को अपने से दूर रखना ही ठीक है। कीचड़ पर पत्थर मारोगे तो छींटे तुम्हें ही बिगाड़ेंगे। ऐसी औरत की तो छाया ही घर से दूर रहना चाहिए।"

उनकी बात सुनकर मुझे रमेश याद आ गया। मुझे लगा, मैं ठाकुर रामसेवक का गला पकड़कर पूछूं कि अपने लड़के को क्यों नहीं रोकते ? दूसरों को उपदेश देना कठिन नहीं है, पर रामसेवक उस समय मेरे हितैषी के रूप में थे। मैंने कहा—"आप ठीक कहते हैं, ठाकुर साहब। मैं कल ही उसका कहीं प्रबन्ध किए देता हूं।"

उन्होंने पूछा—"कहां करोगे ?"

मैंने कहा—"जहां उसकी मरजी हो जाए। मैंने उसका ठेका नहीं लिया। अपनी ओर से जितना प्रयत्न कर सकूंगा करूंगा कि कहीं रहने के लिए कोई अच्छी जगह मिल जाए।"

ठाकुर बोले—"ऐसा नहीं, बेचारी कहां जाएगी ? उसे कहीं शरण तो चाहिए। किसी की मदद के बिना वह क्या कर सकती है ?"

मैंने कहा—"कौन उसे शरण देगा ?"

ठाकुर बोले—"मैं दूंगा। तुम क्यों चिंता करते हो ?"

मैंने कहा—"आपके ही कहने पर तो रखा था। गुण्डों ने उसपर कितना अत्याचार किया !"

ठाकुर बोले—"बुरा तो न मानोगे, निरंजनसिंह ?"

—"नहीं, ठाकुर साहब।"

—"मैं उसे अब अपने घर रखूंगा। देखूंगा, फिर कौन छेड़ता है ?"

—"आप क्या सोचते हैं ? घर में तो मैंने भी रखा है। गांव वाले आपको चैन नहीं लेने देंगे।"

वे बोले—"मैं मालगुज़ार रहा हूं। गांव का रईस हूं। बूढ़ा भी हूं। उमर पचपन है, पर शरीर से···क्यों निरंजन, कैसा दिखता हूं ?" उन्होंने अपनी मूछों पर हाथ फेरे और मुसकान लाते हुए मेरी ओर प्रश्नवाचक मुद्रा में देखा।

मैंने कहा—"आप तो अभी पूरे जवान दिखते हैं।"

वे मेरे पास आ गए। बोले—"यही तो मैं सोचता हूं। पत्नी को मरे दस बरस हो गए, स्त्री की असल जरूरत तो बुढ़ापे में ही रहती है। मंजरी सुन्दर है और अच्छी भी। थोड़े दिन मेरी बखरी में रहेगी तो उसका चेहरा ही बदल जाएगा और मेरे बुढ़ापे में वह सहारा बन जाएगी। थोड़ा मजा भी आ जाएगा और कुछ और दिन अच्छे कट जाएंगे।"

मैं अवाक् रह गया। मैंने ठाकुर रामसेवक को गौर से देखा। उनके चेहरे पर कोई नये भाव नहीं थे, पर वह पहले से ज़्यादा फूल गया था। अंधेरे में चमकती लालटेन जैसी ललाई वहां छा गई थी। मेरे अतर में आग लग गई थी। क्या इसीलिए ठाकुर साहब ने उसके लिए घर बनवाया था ? क्या वे मौके की तलाश में नहीं थे ? क्या गुण्डे उन्हीं के एजेंट थे ? मंजरी के मर्म को क्या वे इस तरह छूना चाहते थे ? एक साथ न जाने कितने प्रश्न मन में उतर आए। मैं उलझ गया। इस दुनिया में किसका विश्वास करू ? ठाकुर रामसेवक ने कहा था—"यह मेरी बेटी है, और मेरी और बेटियों की तरह रहेगी।" आज कहते हैं—"उतरती उमर को कुछ चैन मिलेगा। आदमी की ज़िंदगी में ऐसी लड़की आ जाए तो वह उसी आयु में वापस आकर ठहर जाता है।"

मन भड़क उठा था। मन में आग धधक रही थी, पर ठाकुर साहब से मैं नहीं भिड़ सका। बचपन से उन्हें मानता आ रहा हूं। उन पर मेरी अटूट श्रद्धा रही है। मैंने उनसे कहा—"मंजरी से पूछूंगा और कल आपको बताऊंगा।"

बनावटी ढंग से हंसते हुए उन्होंने मेरी पीठ ठोंकी। बोले—"मंजरी से क्या पूछना है। वह छोकरी तो मेरी मुट्ठी में है।" मेरे कान के पास मुंह लाकर उन्होंने कहा—"तुम चिन्ता न करना। तुमसे मैं उसे थोड़े छीनूंगा।"

मेरा दाहिना हाथ ऊपर उठा। वह उनके गाल पर पड़ना चाहता था, पर मैंने ताकत लगाकर उसे रोक लिया और उससे अपने ही वाल खींचने लगा। मैं वहां से चल दिया। बोला—"अच्छा, कल बात करूंगा।"

अब मेरे मस्तिष्क में अनगिनत कारतूस भर गए थे।···ठाकुर रामसेवक···! पचपन साल का बूढ़ा! ···उसका वह झुर्रियों-भरा, चमकता हुआ सरल-सा लगने वाला चेहरा! ठाकुर रामसेवक—तीन लड़कों का बाप···! दो बहुओं का ससुर···! दो दामादों का धनी···! एक दर्जन नातियों का स्वामी···! ओह! मैंने मंजरी को देखा; उस मासूम लड़की को देखा। सोचने लगा, वह ठीक कहती थी, "जंगल के खुले भेड़ियों से पिंजरे के भीतर का शेर भला है।" उसके अनुभव कितने गहरे हैं! मुझे लगा, जैसे चांद को ग्रहण लग गया है। वह छटपटा रहा है और राहु-केतु की पकड़ से दूर होना चाहता है। तभी उसे मेघ आकर घेर लेते हैं। उसकी कोशिशें बेकार हो जाती हैं।

मैंने अपनी पत्नी को बुलाया। उसे पास बैठाया। फिर ठाकुर रामसेवक का सारा किस्सा सुना दिया। मैंने यह भी निवेदन किया कि वह इस बात को गुप्त ही रखे। पत्नी ने सुनकर पहले तो विश्वास ही नहीं किया, पर जब मैंने उसके लड़के की कसम खाई तो उसने सिर पीट लिया। अब वह मेरे साथ थी। उसने कहा—"जैसे भी हो, उसे बचाना होगा। मैं तो सोच भी नहीं सकती थी कि ठाकुर साहब ऐसे आदमी हैं।" उसने फिर एक व्यंग्य किया—"सारे आदमी एक-से होते हैं।"

मैंने कहा, "मुझपर भरोसा रखो और मन से सारे संशय निकाल दो। मैं उसे बम्बई ले जाऊंगा। उसके साथ कुछ दिन रहूंगा। उसकी नौकरी लगाकर आऊंगा या कोई और प्रबन्ध कर दूंगा। वहां मेरा एक दोस्त है। वह यहां से जितनी दूर चली जाए, उतना अच्छा है। बम्बई जैसी महानगरी में वह इस तरह समा जाएगी कि फिर यहां का कोई बाज वहां नहीं पहुंच पाएगा।"

वह मेरी बात से सहमत हो गई। मैंने वहीं मंजरी को भी बुला लिया। वह आ गई तो मैंने कहा—"मंजरी, हम लोग कल बम्बई चलेंगे।"

वह बोली—"जैसी तुम्हारी मरज़ी, यहां तो दीदी ने अपने प्रेम में मुझे लपेट ही लिया है। इनसे दूर होने का मन नहीं होता।"

उसकी बातें कितनी भोली थीं! वह कितनी नादान थी! बम्बई जैसे नगर

में वह कैसे रहेगी ? पर नहीं, मैं जो वहां रहूंगा। मैं उसे उस भारी समन्दर में तैरने योग्य बनाकर छोड़ूंगा। केतकी से मैंने वहीं कह दिया कि वह किसी को पता न लगने दे कि मैं बम्बई गया हूं। ठाकुर रामसेवक पूछें तो वह कह दे कि मंजरी न जाने कहां रात को ही भाग गई। हमने उसे घर से निकाल दिया था। वे तो परिवार की एक शादी में गए हैं।

नौकरों को बुलाकर मैंने दूकान का सारा काम सौंप दिया। उन्हें सब समझा दिया और अपने मित्र को मैंने तार दे दिया।

रात किसी तरह बिताई। नींद न जाने कहां कैद थी। मेरा मस्तिष्क भयंकर कुहासे से ढका था। समन्दर की पहाड़ जैसी ऊंची लहरों में वह दबा जा रहा था। मेरा अस्तित्व ही जैसे मिटता जा रहा था। तभी सुबह के सूरज ने सहारा दिया और उसे उन लहरों के जाल से उबारा।

घण्टे-भर बाद ही हम दोनों मेलगाड़ी की खिड़की के बाहर झांक रहे थे। हमारे साथ सारी दुनिया भागी जा रही थी। अब वह हमसे अलग नहीं थी।

१४

शेखर : डायरी—महफिल

रविवार

समय : पता नहीं, घड़ी बंद है।

…आज जैसे कोई काम नहीं है! रात प्रेस से बहुत देर से लौटा था। सारे प्रूफ देखने पड़े, फिर उन्हें ओ० के० किया और प्रिंट आर्डर दिया। आधी रात के बाद 'बूची टैरेस' में सन्नाटा था, केवल मंजरी के फ्लैट में प्रकाश था। जबसे मंजरी और निरंजन यहां आए हैं, लगता है कोई यहां की कहानी लिखने लगा है। दोनों में कितना अंतर है! मंजरी एक लड़की है…लड़की होना ही अपने आप में काफी होता है…फिर…!

निरंजनसिंह विवाह नाम की संस्था में बिका हुआ एक घोड़ा है।…वह क्या समझे सुख क्या है…! सबसे बड़ा सुख विश्वास में होता है, विवाह में नहीं। विश्वास एक संज्ञा है और वह स्थायित्व है, उसके टूटने का खतरा किसी दूसरी संज्ञा से ही हो सकता है।…जहां विश्वास न हो, वहां सुख नहीं है।…मैं इतने दिनों के बाद एक ही बात जान पाया हूं—इन दोनों संज्ञाओं का कोई मेल नहीं है, कतई नहीं!

…मंजरी अब यहां आ गई है!…एक बिका हुआ आदमी कब तक उसका पीछा करेगा…कब तक?

आज सत्या आने वाली है और मिस गोरावाला की दोनों लड़कियां… शोभना आए बिना रहेगी नहीं…कमला अय्यर की छुट्टी है! एक खासी महफिल का मजमा है यह सब…घड़ी बंद ही रहे तोअच्छा है। "…कौन? कौन दरवाज़ा 'नॉक' कर रहा है?…ठहरो, खोलता हूं अभी…। हां…!"

१५

मंजरी : थमती हुई ज़िंदगी

शोभना सीधे हमारे फ्लैट में आई।

वह रविवार की दोपहर थी। मैंने कहा—"शेखर विलेपार्ले गए हैं। आते ही होंगे। कह गए थे—आप आएं तो रोकना।"

शोभना ने उपेक्षा दिखाई। बोली—"आने दो, कभी भी आए वह, मुझे तो आज तुमसे बातें करनी हैं।"

—"मुझसे ?"

—"हां, मंजरी। कितने दिन हो गए तुम्हें आए। आज तक हमने मिलकर कुछ बातें नहीं कीं।"

—"ऐसा मेरे पास है ही क्या जो बातें की जा सकें!"

"बहुत कुछ है।"—उसने कहा—"अपने गुण किसी को दिखे हैं ? मैं तुमसे पहली बार मिली थी, तभी से प्रभावित हो गई हूं। मैं तुम्हारे भीतर प्यार का एक दरिया बहता देख रही हूं। तुम जैसी ऊपर हो, वैसी ही…!"

मैंने रोक दिया। बोली—"हटो भी। मेरी क्या बात करती हो। अपनी कहानी तुम्हें सुना चुकी हूं। इससे ज़्यादा और है नहीं।"

"उसे भूल जाओ!"—शोभना ने जीभ पर ज़ोर देते हुए कहा—"दुःख हमारी ज़िन्दगी के सच्चे साथी हैं। वही हमारे मनोबल को उभारते हैं। मैंने तो विपदाओं और दुःखों के बीच ही सब-कुछ सीखा है। सचमुच मंजरी, इसी समय आदमी की परख होती है।"

शोभना की बातें मुझे मीठी लगीं। मैंने कहा—"तुम सच कहती हो।"

उसने कहा—"तो तुम्हें एक बात माननी होगी।"

मैंने पूछा—"क्या ?"

वह बोली—"अब तुम भूल जाओ कि किसी गांव से आई हो। तुम अपढ़ हो, यह झूठ है। अब तुम इस कमरे से बाहर निकलो, इस दुनिया को देखो,

कितनी बड़ी है यह, कितनी रहस्यमय !"

मैंने कहा—"निरंजन से पूछ लूं।"

वह बोली—"पागल हो···। उसका काम खतम हो गया। वह तुम्हारे साथ ज़्यादा रहनेवाला भी नहीं है।"

मैं कुछ बोली नहीं। मैंने कहा—"तुम्हें चाय पिलाऊं?"

"हां, वह चलेगा।"—उसने कहा। स्टोव जलाकर मैं वहीं चाय बनाने लगी। उससे बातें भी करती गई। इस बीच हमारी बातों का सिलसिला बराबर चलता रहा।

उसने पूछा—"तुम आखिर यहां आई किसलिए हो?"

मैंने कहा—"यों ही। उधर पाप था और परेशानी थी। सोचा, यहां पुण्य होगा। बस, चली आई।"

"तुम सच कहती हो। यहां पुण्य ही पुण्य है।···और मंजरी तुम सच मानो, सही मायने में सभी जगह पुण्य है। पाप कहीं नहीं है। पाप हमारे मन का भ्रम है। वह हमारी कल्पना है। जब यही भ्रम हमारे मन में जमकर बैठ जाता है, तब हम रास्ता भूल जाते हैं। इसलिए 'पाप' शब्द को भूल जाओ। वह न वहां था, न यहां है। हमारी लाचारी, हमारा पाप नहीं है। लाचारी न हो और मन को ठुकराया जाए, बस शायद वह पाप है···शायद !"

शोभना की यह व्याख्या मुझे पसन्द आई। मैंने उसे देखा। वह उमर में मुझसे बड़ी नहीं होगी, पर कितना-कुछ जानती है वह! उसने अपनी कहानी भी मुझे बताई थी। कितना सीख गई है वह! जिसमें इतना आत्मविश्वास हो, वह क्यों धोखा खाए! मैं भी अपने मन में यही आत्मविश्वास पैदा करूंगी।

इसी बीच वहां मिस कमला अय्यर आ गई। मिस कमला अय्यर इसी बिल्डिंग में रहती है, पर मुझसे परिचय अभी दो-तीन दिन पहले ही हुआ है।

शोभना उसे अच्छी तरह जानती है। कमला के आते ही उसने कहा—"यह भी अच्छा हुआ, हम दो से तीन हो गए।"

हम तीनों हंस पड़े।

कमला का किस्सा कुछ दूसरी तरह का था। वह बी० ए० तक पढ़ी है। बेचारी दुखी है। एक दिन बिजली का करेंट लगने से उसका सारा परिवार चल बसा। मां एक तार पर कपड़ा सुखाने जा रही थी, दुर्भाग्य से उसमें बिजली थी।

वह उससे चिपककर रह गई। फिर उसे बचाने उसका पति दौड़ा और वह भी चिपक गया। इसके बाद बच्चों की भी यही हालत हुई। कमला परीक्षा देने गई थी, इसलिए बच गई, अन्यथा वह भी उस आत्महत्या जैसे काण्ड में शामिल हो जाती। वह जब कालेज से लौटी तो यह सब देखकर दंग रह गई। सारे मोहल्ले वाले वहां जमा थे। वह भूल गई कि उसका आज का पेपर इतना अच्छा हुआ है।

दूसरा दिन उसे काट गया। शून्य से भरा हुआ वह घर और वह अकेली···! घर के हर कमरे में मौत का सन्नाटा खाने को दौड़ता था। आगे की परीक्षा उसने एक सहेली के घर रहकर दी, परन्तु मन उचट गया था, वह परेशान थी। उसके मां-बाप बहुत अच्छे थे। अपनी लड़की के लिए वे सब-कुछ करते थे।

इस मौत के बाद हमदर्दी का तांता शुरू हुआ। उसी में एक व्यक्ति ऐसा था, जो उस दुःख में कमला के साथ डूब गया। कमला को भी लगा कि अचानक खालीपन में कोई तो ऐसा है, जिस पर वह विश्वास रख सकती है। बहुत दिनों बाद कमला को पता चला कि आदमी यूं ही हमदर्दी नहीं दिखाता, वह उस समय इन्वेस्ट करता है और आगे जाकर उसे चेक की तरह भुनाता है।

आखिर उस हमदर्दी से परेशान होकर कमला बम्बई आ गई। यहां भी अपने मन से यूं नहीं आई थी। किसी ने उसे वचन दिया था कि वह फिल्मों में काम दिला देगा। उसे हीरोइन बनवा देगा। क्योंकि उसके नाक-नक्श तीखे हैं। देखने में वह आकर्षक है। पढ़ते समय उसने नृत्य भी सीख लिया था और कत्थक अच्छी तरह कर लेती है। यहां आकर वह फिल्मों में काम तो नहीं दिला सका, उसने नौकरी ज़रूर दिला दी और कमला अब सोचती है कि फिल्मों में न जाकर उसने अच्छा किया है। उसने एक साल तक सारे स्टूडियो के चक्कर काटे थे और उसने अनुभव किया था कि वे सब अपने आसपास एक जाल बिछाए होते हैं।

कमला हंसमुख और सरल स्वभाव की है। शोभना ने कहा—"कमला, मंजरी भी अब हमारे बीच आ गई है। इसके लिए भी कुछ करना होगा।"

कमला ने मुझसे तब कई प्रश्न पूछे थे— सबसे पहला था कि मैं कहां तक पढ़ी हूं। बम्बई जैसे शहर में पढ़ाई के बिना क्या हो सकता था। मैंने अपना बायां अंगूठा दिखाकर कहा था—"यह ज़रूर लगा सकती हूं और बहुत अच्छा लगाती हूं।"

मेरी बात सुनकर कमला हल्की-सी मुसकराई। उसने कहा—"कोई बात नहीं, मैं तुम्हें पढ़ाऊंगी। शाम को मुझे कुछ काम भी नहीं रहता। महीने-दो महीने में काम चलाने लायक तो पढ़ ही जाओगी। और देखो, मैं अंग्रेज़ी ही पढ़ाऊंगी। यहां रहना है तो पहले वह आनी चाहिए।"

उसी समय निरंजन आ गया।

उन दोनों ने नमस्ते की। वह चिंतित था। वह मेरे पास आकर खड़ा हो गया। उन दोनों का मैंने परिचय कराया। मैंने पूछा—"आज सवेरे निकले थे? कहां घूम आए?"

उसने कहा—"कुछ जमा नहीं! बेचारा प्रोफेसर भी मेरे साथ था। कहीं जमता नहीं दिखता।"

शोभना बोली—"प्रोफेसर का साथ छोड़ो भाई, वह क्या जमा सकेगा? मास्टरों की जात बड़ी निकम्मी होती है।"

मुझे और कमला को उसकी इस खीझ का कारण पता था। हम दोनों एक साथ ज़ोर से हंस पड़े। वह गम्भीर हो गई। बोली—"निरंजन, इन्हें हंसने दो। प्रोफेसर तुम्हारी मदद नहीं कर सकेगा।"

निरंजन ने पूछा—"तुम उसे जानती हो?"

वह बोली—"हां, क्यों नहीं!

तभी प्रोफेसर आचार्य भी वहां आ गया। सबसे पहले शोभना ने ही पूछा—"आपका परिचय?"

सब ज़ोर-से हंस पड़े। शोभना को जब पता लगा कि यही प्रोफेसर आचार्य है, तो वह लाज के मारे जैसे गड़ गई। मैंने उसकी सहायता की। बोली—"बुरा न मानो। दूध का जला छांछ को भी फूंक-फूंककर पीता है। एक प्रोफेसर से यह धोखा खा गई है तो सबको वही समझती है।"

सब फिर हंस पड़े और उसी में वह खो गई।

कमला अय्यर ने निरंजन को साहस दिया। बोली—"तुम्हारी मंजरी को हमने छीन लिया है। वह अब हमारी हो गई है। तुम कोई चिन्ता न करो। मैं आज से ही उसे अंग्रेज़ी पढ़ाना शुरू करती हूं।"

शोभना ने कहा—"शेखर आता ही होगा। उससे कहूंगी, तब तक इसे छोटा-मोटा काम दिला दे। वह आदमी बहुत प्रभावशाली है।"

मैंने फिर सबके लिए चाय बनाई।

सबने एक साथ चाय पी। प्रोफेसर आचार्य को कहीं जाना था। चाय पीकर वह चला गया। शोभना ने बाहर आकर देखा। बोली—"अभी तक नहीं आया···!"

मैंने कहा—"आने को तो जल्दी कह गए थे।"

तभी बाहर से आवाज़ आई। कोई ताला खोल रहा था। वहीं खड़े-खड़े मैंने कहा—"लो, वे आ गए।"

शेखर ने दरवाज़ा खोला। वह जैसे ही भीतर गया कि शोभना ने उसके हाथ पकड़ लिए। बोली—"प्रोमिस कर कहां चले जाते हो? यह मुझे अच्छा नहीं लगता। हूं-ऊं-ऊं।"

मैंने देखा, शोभना के चेहरे पर उपालम्भ के साथ-साथ प्यार के नये अंकुर फूट आए थे। शेखर ने उसकी कमर पकड़ ली थी। बोला, 'नाराज़ हो गई? मैं तो मंजरी से कह गया था···!"

मैंने वहीं से आवाज़ दी—"कह दिया था, शेखर साहब, चाय भी पिला दी थी मैंने तुम्हारी शोभा को।"

शेखर ने बताया—"विले पार्ले में आज 'साहित्य संगम' की गोष्ठी थी मुझे उसकी अध्यक्षता करने बुलाया था। यार लोग छोड़ ही नहीं रहे थे, मुश्किल से मुक्ति मिली।"

शोभना ने कहा—"बड़े आदमी हो। सभी शहद की मक्खी की तरह चिपकना चाहते हैं। लेकिन मेरे साथ यह नहीं चलेगा।" इसके बाद उसने दोनों हाथों से एक्टिंग करते हुए कहा—"शेखर साहब, आपुन जिस आदमी से प्यार करता उसके लिए 'वेट' नहीं कर सकता, समझे!"

वे दोनों एक साथ हंस पड़े। फिर शेखर पलंग पर बैठ गया। उसने कहा—"मंजरी को भी बुला लो।"

शोभना ने मुझे आवाज़ दी। वैसे मैं खड़ी सब-कुछ सुन ही रही थी। मैं तुरन्त वहां आ गई। मैंने कहा—"निरंजन भी है और कमला भी।"

शेखर ने कहा—"अरे, तो उन्हें भी बुला लो।"

—"आइए, आइए! क्या हाल हैं?"

"सब ठीक है," —निरंजन ने कुरसी पर बैठते हुए कहा। कमला पलंग पर

जाकर बैठ गई। शेखर ने कहा—"तुम चिंतित मालूम होते हो। क्यों···?"

उसने चिंता-भरे स्वरों में ही कहा—"चिन्ता की बात है ही, शेखर साहब, अपना घर छोड़े मुझे पूरा एक महीना बीत गया। घर में व्यापार है, बच्चों की तबीयत भी ठीक नहीं थी। पत्नी अलग चिंतित होगी। कहीं सोच न रही हो···!"

"कि मैंने अपने प्यार में लिपटा लिया और उससे छीन लिया।"—मैंने वाक्य पूरा कर दिया।

एक हल्की हंसी वहां गूंज गई।

शेखर ने कहा—"तुम घर-गृहस्थी वाले ठहरे। इस फ्लैट में ऐसों की गुंजाइश नहीं है। यहां तो भाई कबीर के भक्त चाहिए, कबीर के!"

निरंजन गम्भीर हो गया। बोला—"आपका मतलब ?"

शेखर ने मुसकराते हुए कहा—"यही कि हम सब क्वांरे हैं। तुम्हारी मंजरी भी क्वांरी है। बस, एक तुम्हीं हो, हमसे बाहर। अरे भाई, यहां फिर पड़े क्यों हो ? यहां तो वे रहते हैं, जो घर फूंके आपना चले हमारे साथ। बंधे आदमियों के लिए यहां जगह नहीं है।"

निरंजन ज़ोर से हंसा—"तुम ठीक कहते हो। वह दुनिया ही और है। परन्तु मंजरी को जब तक राह न लगा दूं, कैसे जा सकता हूं ?"

शेखर ने कहा—"तुम स्वयं राह से भटके हो निरंजनसिंह ! किसी को राह में क्या लगाओगे ? अब उसकी तरफ से निश्चिन्त रहो। वह मुझे सब बता चुकी है। बहुत रोई थी उस दिन बेचारी। उसके मन में बड़ा दर्द है। उसे ठीक रास्ता अब मिल जाएगा।"

निरंजन ने शेखर की ओर देखा। उसकी आंखों में एक अजीब प्रश्न था।

शेखर समझ गया था। बोला—"डरते हो, शेखर से डरते हो ! तुम मुझे नहीं जानते। तुम जान भी कैसे सकते हो ? और तुम ही क्या मुझे दुनिया नहीं जानती, शायद कोई नहीं जानता···।"

"और मैं भी नहीं ?"—शोभना ने बीच में ही प्रश्न कर दिया।

"हां, कुछ हद तक तुम भी नहीं।" —शेखर ने सामने के स्टूल में अपने पैर फैला दिए। बोला—"न जाने, लोग मुझे क्या-क्या समझते हैं। कोई नेता समझता है, कोई फिलासफर कहता है। कोई कामशास्त्रवेत्ता, तो कोई पंडित मानता है।

कुछ तो अपना भविष्यफल भी दिखाने आ जाते हैं। वे यह नहीं जानते कि मैं खुद अपना भविष्य नहीं जानता। साहित्यकार मुझे अपनी जमात का समझते हैं। शोभना सोचती है…!"

"तुम यह सब हो और कुछ भी नहीं हो। यदि कुछ हो तो बस शेखर, तीसरे खण्ड को झेलनेवाला।"—शोभना बोली।

"नहीं, ये 'बूची टैरेस' की शोभा है।"—कमला अय्यर के मुंह से एकदम निकल तो गया पर तुरन्त ही उसने अपनी हथेलियों से अपना मुंह ढक लिया। वह अनजाने में कह गई थी।

शेखर ने उसे देखा तो बोला—"अरे, तुम भी बैठी हो! मुझे तो पता ही नहीं था। चलो, तुमने अपनी उपस्थिति तो जता दी।"

सब खूब खिलखिलाकर हंस पड़े।

शेखर ने कहा—"भाई निरजन, मुझपर भरोसा रखो। मंजरी अब हमारे बीच आ गई है। हम सब उसकी देखभाल करेंगे। उसकी रक्षा का ज़िम्मा आज से हमारा है। तुम हमपर विश्वास रखो और अपने गांव जाकर गृहस्थों की तरह रोटियां बेलो। तुम्हारे थान में बंधी तुम्हारी पत्नी प्रतीक्षा कर रही होगी।"

शोभना ने कहा—"और कमला अय्यर ने तो इसे पढ़ाने का ज़िम्मा ले ही लिया है। कल से वह पढ़ाना शुरू भी कर रही है।"

मैंने पूछा—"पढ़ना क्या इतना सहज है?"

कमला बोली—"दो महीने में सब आ जाएगा। छः महीने में अपने को बी० ए० पास समझेगी।"

शेखर बोला—"यह ठीक कहती है। मेहनत से क्या नहीं हो सकता। शाम को कमला पढ़ाएगी, दोपहर को मैं खाली रहता हूं।"

निरंजन ने शेखर का आभार माना, फिर उसने पूछा—"तब तक वह क्या करेगी?"

"पढ़ना क्या कोई काम नहीं है, भाई!"—शेखर ने ज़ोर देकर कहा—"मैं जानता हू, तुम क्या कहना चाहते हो। इसका खर्च कहां से चलेगा, यही न?"

निरंजन झेंप गया। अपनी झेंप मिटाते हुए उसने कहा—"नहीं शेखर साहब, वह बात नहीं है। सौ रुपये महीने तो मैंने उसे भेजने का वचन दे ही दिया है।"

"तो बस,"—शेखर ने चुटकी बजाई—"सौ मेरे सही ! अब तो हो जाएगा ?" शेखर अचानक कह गया था। निरंजन कुछ बोला नहीं, पर उसके चेहरे से चिंता की रेखाएं मिट चुकी थीं।

शेखर खड़ा हो गया। उसने निरजन के दोनों हाथ पकड़े। बोला—"तुम पर बहुत ज़िम्मेदारियां हैं भाई, उन्हें संभालो। हम ठहरे गैर-ज़िम्मेदार लोग। न किसी का सिर पर भार, न किसी का कर्ज़ा। अपनी मरज़ी के मालिक हैं। जो मन में आता है करते हैं और मज़े में ज़िंदगी गुज़ारते हैं। इस बहती हुई ज़िन्दगी में जो आ जाए उसकी मदद करते हैं। तुम तो बिना चिंता किए चले जाओ। मंजरी तुम्हें चिट्ठी लिखती रहेगी।...दो महीने की बात है न ! फिर तो बस, तुम नहीं जानते, मैं इस मुहल्ले में एक 'बाल मंदिर' बनाने का यत्न कर रहा हूं। मिस गोरावाला ने अपने टैरेस की छत देने को भी कह दिया है। शोभना और मंजरी दोनों मिलकर उस 'बाल मंदिर' को चलाएंगी। मैं कुछ दिनों में कारपोरेशन से सहायता भी दिलवा दूंगा। तुम जाओ, चिंता न करो।"

शेखर बाहर आ गया। वहां एक टैक्सी खड़ी थी। उसमें एक लड़की बैठी थी। शेखर ने टैक्सी का दरवाज़ा खोला और उसके बाज़ू में जाकर बैठ गया। उसी के पास शोभना भी जाकर बैठ गई। शेखर ने वहीं से आवाज़ दी—"मंजरी, कहीं जाने लगो तो मेरा फ्लैट बन्द कर देना। आज से चाबी तुम्हारे पास रहेगी।" टैक्सी एक बार ज़ोर से घरघराई और चली गई।

मिस कमला अय्यर ने कल शाम को लौटने का वचन दिया और वह भी विदा हुई। रह गए हम दोनों।

मैंने कहा—"कितना भरोसा करता है वह !"

निरंजन ने उसके फ्लैट का दरवाजा लगाया, फिर ताला लगा दिया। हम दोनों अपने फ्लैट में आ गए। वह बोला—"कुछ भी कहो, आदमी बढ़िया है। है रहस्यमय, पर उतना ही साफ है। मुझे प्रसन्नता है, तुम्हारी चिन्ता मुझे नहीं रहेगी।"

मैंने कहा—"अब कमरे में बन्द होने से क्या फायदा ? चलो जुहू के किनारे ही चले चलें। तुम्हारा तो एक भार उतरा...!"

वह तैयार हो गया और हम बाहर निकल आए। हम समन्दर के किनारे जाकर बैठ गए। वहां आज खासी भीड़ थी। कुछ खोंचे और ठेलेवाले भी थे।

निरंजन ने एक चाटवाले को बुलाया और हम दोनों गोलगप्पे खाने लगे। हमारे ठीक सामने कुछ पारसी लड़कियां समुद्र की लहरों में डूब-उतरा रही थीं। भारी लहरों में उनका इस तरह उतराना-डूबना एक रंगीन समां बना रहा था। मैं बहुत देर तक उन्हें ही देखती रही। निरंजन मेरे गले में हाथ डाले मुझसे एकदम सटकर बैठा रहा। वह लगातार मुझसे बातें करता रहा। कभी किसी और जोड़े को किसी मुद्रा में देखता तो मुझे खींचकर अपनी देह से लगा लेता। दूर समन्दर की लहरों का अंत नहीं—वे अनंत छोर से आती हैं और चुपचाप रेत पर पसर जाती हैं।

१६

शेखर : प्रतिमानों के दायरे

मैं नहीं जानता लोग मेरे बारे में क्या सोचते हैं। इसकी चिंता भी मैंने नहीं की। मंजरी एक नई लड़की है। इस फ्लैट में आए उसे महीने-भर से ज़्यादा नहीं हुआ। पर अब उससे भी मुझे प्यार हो गया है। मैं उसे चाहने लगा हूं। उसका सीधापन एक दुर्लभ गुण है। मैं उसकी मदद करूंगा। मैं हमेशा दूसरों की मदद करता हूं, यह एक ऐसी बात है, जो सदा मेरे ध्यान में रहती है। इसके साथ ही, एक और विचार मेरे मन में आता है। वह यह कि मंजरी देखती है कि यहां हर रोज़ कोई-न कोई लड़की आती है। मुझसे घंटों बातें करती है फिर चली जाती है। वह ज़रूर सोचती होगी कि मैं भला आदमी नहीं हूं।

भले आदमी की परिभाषा क्या होती है ?···मैं बहुत सोचता हूं···सोचता ही रहता हूं। जो मैं समझता हूं, उससे नई परिभाषा मुझे सूझती नहीं। उस दिन सत्या आई थी। घंटे-भर वह बैठी रही, पूछती थी—"क्या प्रेम वासना नहीं है ?"

मैंने कहा था—"वासना कहां नहीं है, प्रेम में भी है, उसके बाहर भी। वह अपने समस्त जीवन-तन्तुओं में समाहित है। वासना ही तो हमारी ज़िन्दगी चलाती है। हमारे प्राणों में पुलक भरती है।" मेरी बात सत्या को स्वीकार नहीं हुई। उसने कहा—"मैं नहीं मानती। प्रेम से वासना पैदा होती है और वासना काम को जगाती है।"

उसकी बात पर मैं हंसा था। मैं जानता हूं, यह गलती केवल सत्या नहीं करती; बहुत-से लोग करते हैं। मैं प्रेम, वासना और काम इन तीनों चीज़ों का एक-दूसरे से पृथक् अस्तित्व मानता हूं। प्रेम हृदय से विकसित है। यही उसका घर है। वासना और कुछ नहीं, बल्कि हमारी इच्छाशक्ति है। इच्छाएं जाग्रत करना मस्तिष्क का काम है और काम, वह तो शरीर और प्राण के धरातल की

चीज़ है। बस, इतनी-सी बात है। यह भेद मैं अच्छी तरह जान गया हूं, इसलिए जब मैं प्रेम करता हूं तो मेरे अनचाहे काम जाग्रत नहीं हो सकता। वासना मेरे चिन्तन में समाई है। वह न होती तो आज मैं, मैं न होता। और काम?…बिना प्रेम के भी मैंने काम का सहारा लिया है। मैं पूछता हूं, क्या उपभोग केवल 'काम' से संबंधित नहीं हो सकता? तीन-चौथाई विवाहित पुरुष अपनी पत्नियों को केवल काम का साधन ही तो मानते हैं। उनमें प्रेम कहां है?

लेकिन, यह क्या? मैं यह प्रश्न किससे पूछ रहा हूं? यहां तो कोई नहीं है। सिर्फ मैं हूं। काश, इस सत्य को सब पहचान पाते…!

एक और लड़की है सुरेखा। सुरेखा ने यह बात नहीं मानी। कैसे मान सकती थी? कोई भी ईश्वरवादी नहीं मान सकता। मैं सुरेखा से कहता हूं—"रेखा, सृष्टि आनन्द से उत्पन्न है। इस आनन्द का अभिव्यक्त रूप प्रेम है, काम जिसका अंग है। पशु-पक्षी, वृक्ष-पौधे और चेतन सबमें यह व्याप्त है। वह सहज रूप से उनमें चला जा रहा है। लेकिन न जाने क्यों हम मनुष्यों ने उसे पाप मान लिया है। हमने अमृत को विष समझ लिया और मैं सोचता हूं, यह सब हमारी बुद्धि का दोष है। उसने हमें भ्रमित कर रखा है। वह अनेक अनगढ़ मान्यताओं को रूप देती है। जिस दिन से हमने इस भ्रम में अपने को डाला है, उसी दिन से सभ्यता ने आगे की बजाय, पीछे चलना शुरू कर दिया है।"

ये सिद्धान्त शायद सुरेखा की समझ से परे हैं। वह आंख फाड़कर मुझे देखने लगती है। कुछ कहती नहीं। तब मैं उसके हाथ पकड़ लेता हूं। उसे अपने आलिंगन में कस लेता हूं। कहता हूं—"ज्ञान की बातें मन कभी सहज रूप से ग्राह्य नहीं करता। आगे बढ़ोगी, तुम्हारे अनुभव, सब स्वीकार करा देंगे।"

एक लड़की और है, हेलेन। शोभना ने एक बार पूछा था—"एक लड़की सिगरेट पीती है। चुस्त फुलपैंट वह पहने थी और लड़कों के हाथों में हाथ डालकर सड़क पर नाचती है। वह तुम्हें एक दिन पूछ रही थी, वह कौन थी?"

मैंने कहा था—"हेलेन…!"

वह खीझी थी—"मैं नाम नहीं पूछती।"

"फिर?"—मेरा प्रश्न था

उसने पूछा था—"उससे भी तुम्हारा कोई सम्बन्ध है?"

"हां, सम्बन्ध तो बहुतों से है।"—मैंने कहा था।

उसने अपना मुंह बिदकाया था। कहती थी—"यह अच्छा नहीं है। वह लड़की कतई इस लायक नहीं है। यह एक बुरी बात है।"

मैंने उससे कहा था, आज भी कहता हूं—अच्छा क्या है, बुरा क्या है, किसी से मत पूछो। बीसवीं सदी का एक बड़ा अभिशाप है, हर आदमी सोचता है कि उससे ज़्यादा बुद्धि और किसी में नहीं है। वह नहीं जानता, ऐसा सोचकर वह स्वयं अपनी बुद्धि को कमज़ोर और दिवालिया घोषित करता है। हेलेन से मेरा सम्बन्ध है, मैं उसे चाहता भी हूं। जैसी और लड़कियां है, वह भी है कुछ कहते हैं, उसकी जात-पांत का पता नहीं है। मैं कहता हूं, क्या इसीलिए वह त्याज्य है ?···लड़कियों के बीच भेद नहीं होना चाहिए, फिर किसी को चाहना गलत तो नहीं है। एक ही तरह के घेरे से आदमी की ज़िंदगी स्टेल हो जाती है। वह बंद तालाब के सड़े हुए पानी की तरह गंध देने लगता है।

मेरे एक मित्र ने बताया था कि हेलेन एक हिन्दू की संतान है। पर संतान नाजायज़ थी, इसलिए वह हिन्दू नहीं रह सकी। ये सब बातें कैसी विडम्बना है! दुनिया यह नहीं कह सकती कि उस संतान को जन्म देने वाले नाजायज़ हैं। यह उनकी शक्ति के बाहर की बात है। जिसे सामने देखते हैं उसी को कोसते हैं। वे जब मूल को नहीं पहचान पाए तो उनके बीच में कोई भला कैसे रहेगा? वह हिन्दू ही क्यों रहे? उसी में क्या रखा है? हैं तो भी सभी आदमी, सभी एक हैं। सभी की क्रियाशक्ति एक है, सभी की चिन्तनशक्ति एक है। एक तरह से सभी जन्म लेते हैं। मृत्युंजय कोई नहीं है। तब, यह भेद कैसा?

माता-पिता का पता पूछनेवालों से मैं कहता हूं, वे बताएं, वसिष्ठ के माता-पिता कौन थे? व्यास किसकी संतान थे? कर्ण के पिता का नाम क्या था? इनका उत्तर किसी के पास नहीं है। मैं वह जानना चाहता भी नहीं हूं। लेकिन मैं किसी तरह के भेद-भाव का विरोधी हूं, इसीलिए हेलेन मेरी मित्र है। यह बात अलग है कि वह सिगरेट पीती है, मैं नहीं पीता। वह चुस्त फुलपैंट पहनती है, मैं फुलपैंट नहीं पहनता। वह अंग्रेज़ी डांस जानती है, मैं कम जानता हूं। मित्रता के लिए यह जरूरी भी नहीं है। मैं जो जानता हूं, वह नहीं जानती। जो मैं हूं वह नहीं है। जो वह है, मैं नहीं हूं। इसलिए भी दोनों के लिए मित्रता का मार्ग खुल जाता है। बहुत बातें मैं उससे जान लूंगा, और वह मुझसे बहुत कुछ जान लेगी।

शोभना को मैं समझाता हूं—"हेलेन को बुरी लड़की मत कहो। मैंने उसे

निकट से देखा है।" मैं तो यहां तक कहता हूं, किसी को बुरा मत मानो। जो बुरा मानता है, वास्तव में वह स्वयं अपने-आप से दूसरों को तोलता है।

मैं यहां कई सालों से रहा हूं। बम्बई आया तो दो साल अकेला रहा। मेरे मित्र थे, पर सब पुरुष। उनमें अधिकांश साहित्यिक। समान रुचि के लोगों में मित्रता जल्दी हो जाती है। इनसे मिलने में मुझे देर नहीं लगी, पर रह-रहकर लोग मुझसे पूछते थे—"तुम्हारी कितनी गर्लफ्रेंड हैं ?"

वे गर्व से बताते थे कि उनकी चार गर्लफ्रेंड। कोई कहता, "मेरी चौदह है !"

मैं कह देता—"मेरी तो एक भी नहीं।"

वे सब हंसते थे। खूब हंसते थे। मैं विवश उन्हें देखता रहता था। उनका कहना था, यह बम्बई है। यहां बिना गर्लफ्रेंड के आदमी की कीमत नहीं है। एक दिन मिस गोरावाला ने कहा था—"मिस्टर शेखर, तुमको बम्बई आने को कितना समय होना मांगता ? कोई तुम्हारा गर्लफ्रेंड नहीं बनना मांगता ? कैसा आडमी है ? आडमी है न ?"

मैं आज भी मिस गोरावाला के शब्द याद करता हूं—'आडमी है न ?' उसे मेरी आदमियत पर यानी पुरुषत्व पर संदेह था। मैंने निश्चय कर लिया कि मैं गर्लफ्रेंड बनाकर रहूंगा। यद्यपि इसमें मेरा व्यक्तित्व बाधक था। मैं आते ही यहां लोकप्रिय हो गया था। साहित्यिक समाज में मैं बुलाया जाने लगा था। सभा-सोसाइटियों के अध्यक्ष पद मेरे लिए सुरक्षित रहने लगे थे। वे सब यदि यह जानेंगे कि मेरी गर्लफ्रेंड हैं, तो वे क्या कहेंगे ? यह व्यवधान बना ही रहा। पर इसके रहते हुए भी मैं आगे बढ़ा। सबसे पहले मैंने मिस गोरावाला की लड़कियों को ही मित्र बनाया। फिर सत्या मेरी मित्र बनी। सत्या को और लोग केवल नाम से जानते हैं। वह भी पूरा नहीं। उसका पूरा नाम है, श्रीमती सत्या चौहान। चौंकिए नहीं ! हां, श्रीमती सत्या ! यह भी बता दूं कि वह इस नगर के एक बहुत बड़े अफसर की पत्नी है। उसका पति नेवी में बहुत ऊंचे पद पर है। उसका नाम नहीं लूंगा। नाम से मतलब भी क्या है ? सत्या सबसे अलग है। उसके सुर्ख गुलाबी गाल हैं। बिना काजल के भी सदा काली रहने वाली आंखें हैं। मांसल और भरी-पूरी देह है। वह शिफान की साड़ी पहनती है। उसका अधढका शरीर कितना सुन्दर लगता है ! सत्या से मैं प्यार करता

हूं, श्रीमती सत्या से। प्यार कैसे हुआ, नहीं बताऊंगा। यह हमारा निजी मामला है। श्रीमान चौहान यह शायद नहीं जानते। जानते हों तो मुझे पता नहीं, पर सत्या मुझे प्यार करती है। मैं यह खूब जानता हूं। वह मेरे लिए व्याकुल रहती है, यह भी मैं समझता हूं। हर शनिवार को वह मुझसे मिलती है। मेरा यह दिन उसका है।

मैंने सत्या को साफ बता दिया है कि मैं भूलकर भी कभी विवाह जैसी संस्था का सदस्य बननेवाला नहीं। प्रेम करने के पूर्व वह इसे अच्छी तरह जान ले। वह कहती है—"उसकी मुझे ज़रूरत नहीं है। मैं विवाहित हूं। मिस्टर चौहान क्या बुरे हैं! स्त्री को अपने सिर पर सिन्दूर लगाने के लिए किसी का नाम ही तो चाहिए। वह है, बस। एक प्रतीक बनाए रखने में सुविधा है। उससे सामाजिक सिद्धान्तों का पालन हो जाता है।"

सत्या का पति बहुत समय तक समन्दर के जंगलों में भटकता रहता है और मछलियों से घिरा हुआ ज़मीन से कट जाता है। एक बार जहाज़ लंगर हटाता है तो तीन-तीन महीने चलता ही रहता है। सत्या ने जब विवाह किया था, उसे पता नहीं था कि नेवी के अफसर साधारण सैनिकों की तरह स्वयं मैदान में जाते हैं। इस बीच का अकेलापन उसके लिए एक सिरदर्द है। एक समारोह में 'तम्बोला' खेलते हुए मेरा सम्पर्क उसके साथ हुआ था। परिचय के लिए क्या इतना ही काफी नहीं होता?

सत्या के बाद मेरे प्रवाह में शोभना आई। वह आकर ऐसी ठहर गई कि मुझसे कटकर शायद वह रह ही नहीं सकती। उसके साथ ही सुरेखा। फिर हेलेन···। और ···न जाने कौन-कौन? अब मिस गोरावाला कभी नहीं पूछती कि तुम्हारी कितनी गर्ल-फ्रेंड हैं। पहले वह हमेशा व्यंग्य करती रहती थी। एक दिन उसकी लड़की ने ही कहा था—"मम्मी, यह आदमी बहुत तेज़ है। थोड़े दिनों में ही देखना इसे।"

मैं यह सुनकर तब हंस दिया था। सोचता था—लड़कियां भी भविष्यवक्ता हो सकती हैं। असल बात यह है कि हर लड़की अपने वर्तमान से कटी, व्यतीत के किस्से गढ़ती, भविष्य पर जीने की आदी होती है। शायद इसलिए वह भविष्य की बातें आसानी से कर सकती है।

जुहू में मेरी धाक है। यहां के लोगों की अलग नज़रें हैं और हर आदमी

अपनी-अपनी नजर से मुझे देखता है। वे देखते हैं, हर शनिवार को 'बूची टैरेस' के सामने एक नई डिज़ाइन की 'वाक्स वैगन' खड़ी रहती है। उससे गुड़ियों की तरह सजी एक खूबसूरत लड़की निकलती है। वह मेरे कमरे में आती है। उसके भीतर आते ही कमरे का दरवाज़ा अपने-आप बंद हो जाता है। इसके बाद भीतर की दुनिया बाहर के लोगों के लिए खो जाती है।

वे सत्या की इस चमक-दमक से जरूर जलते होंगे। यह भी सोचते होंगे कि इस धोती और बंडी पहनने वाले आदमी में ऐसा क्या है? वे क्या समझें— आधुनिकता क्या है? वह कपड़े पहनने से नहीं आती? लड़कियों के साथ घूमने से भी वह नहीं आती। उसका सम्बन्ध आदमी के विचारों से है।

हम जिन्दगी को साधारण ढंग से क्यों नहीं लेते? जैसे वह चलती है, उसे हम चलने क्यों नहीं देते? क्यों उसे अस्वाभाविक ढंग से चलाने की हम कोशिश करते हैं?

यहां के लोग अवश्य देखते होंगे कि रोज कोई-न कोई लड़की मेरे पास आती है। वे यह भी देखते हैं कि सड़क पर बाहर चलते समय शोभना मेरा हाथ पकड़ लेती है और कई बार तो सबके सामने बातें करते-करते 'किस' कर लेती है। मिस गोरावाला अपने 'बूची टैरेस' के सामने सड़क पर खड़ी होकर भी जब बातें करती है तो उसके चेहरे पर पानी उतर आता है। वह अधेड़ औरत अपनी उमर से कई साल नीचे आ जाती है, और मेरे आने के बाद तो उसने अपना नक्शा ही बदल दिया है। अब वह 'बेलबाट' भी पहनने लगी है। कभी लुंगी भी बांध लेती है और जब वह ऐसा कुछ पहनती है तो उसकी लड़की कहती है—"हाय मम्मी! हाऊ स्वीट यू आर!"

उसे अपनी सही उमर से नीचे उतारकर 'स्वीट' बनाने का श्रेय किसे है? एक पुरुष को··· उसी ने एक दिन कहा था—"मेन इज़ द फाइनेस्ट बींग ऑफ द वर्ल्ड।" तब मैंने उत्तर दिया था—"नो···वुमेन इज़ द फाइनेस्ट बींग ऑफ द वर्ल्ड।" हम दोनों एक साथ तब हंस पड़े थे।

जुहू में हर आदमी मुझे जानता है। यदि मैं कारपोरेशन का चुनाव लड़ूं तो भारी बहुमत से जीत जाऊंगा, लेकिन मैं चुनाव नहीं लड़ना चाहता। राजनीति से मुझे चिढ़ है। वह आदमी की सहजता को नष्ट करती है। उसे वह ढोंगी

बनाती है, क्योंकि हर राजनेता एक ढोंग रचने का आदी होता है। राजनीति निहायत खोखली चीज़ है।

आदमी का अस्तित्व उसकी देह है। उसके बाद वह हवा है, मात्र एक स्मृति। देह के साथ जो कुछ जुड़ा है, उसमें 'काम' सबसे प्रमुख है। वह न हो तो देह की चिकनाई झुर्रियों में बदल जाए। हमारी आंखों की झील में चमकनेवाली नीचे की देह, सांवले हाथों में रची हुई मेंहदी है। मुश्किल यह है कि हम 'काम' के सहज धर्म को नहीं पहचान पाते। दीवारों से बाहर आकर भी हमें लगता है, जैसे हमारे चारों ओर दीवारें हैं। पंख-मुक्त होकर भी हम खुले आकाश को नहीं पहचान पाते। भय हमें हवा की तरह घेरे रहता है। मैं पूछता हूं—किसका भय है यह—सामनेवाले उस मदरासी का? चाय की दूकान चलानेवाले मराठे का? दूध देनेवाले भइये का? पुरानी चुराई हुई चीज़ों की दूकान चलानेवाले उस पारसी अधेड़ का? जो गोल टोपी लगाता है और अपने मोटे चश्मे से सड़क पर चलती लड़कियों को घूरता है···!

पुरुष की नारी के लिए और नारी की पुरुष के लिए चाह स्वाभाविक है। दोनों एक-दूसरे की तलाश में हैं। उस दिन अचानक मिस गोरावाला के यहां उसकी सहेली मिल गई थी। वह अस्पताल से आई थी। उसका चेहरा विकृत-सा था और चढ़ा हुआ। वह परेशान-सी दिख रही थी। उसने मेरे सामने ही मिस गोरावाला से कहा था—"डाक्टर भी अजीब है, कहता है तुम्हारी दवा मेरे पास नहीं है। जो कुछ दवा मैं दे सकता था, दे चुका। अब तुम जाओ और किसी पुरुष से दोस्ती करो। वही तुम्हारा इलाज हो सकता है।"

क्या डाक्टर झूठ बोलता था?···नहीं···! और फिर बम्बई जैसे शहर में आदमी कितना मशीनी बन गया है! एक-दूसरे से कटा हुआ अपने-आप में लिप्त और अकेला ··! इस अकेलेपन का इलाज क्या है? एक दिन उसी अकेलेपन को मैंने इन शब्दों में अभिव्यक्ति दी थी :

सचमुच
शोर से दूर होकर
आदमी का भय-
कितना बढ़ जाता है।

मुझे दूसरों की चिंता नहीं है। मैंने कभी यह नहीं सोचा कि दूसरे लोग मेरे बारे में क्या सोचते हैं? मैंने जानने की भी कोशिश नहीं की। मैं एक ही बात जानता हूं, मेमने की तरह चलते-फिरते लोग कभी कोई प्रतिमान स्थापित नहीं कर सके। ऐसा करना उनकी सामर्थ्य के बाहर है। असमर्थ व्यक्तियों को मैंने कभी महत्त्व नहीं दिया। देना भी नहीं चाहिए, उन्हें तो स्वयं एक सहारे की आवश्यकता है। महत्त्व उसका होता है जो सहारा दे सकता है।

१७

निरंजन : टूटते हुए

मंजरी की आंखें फूली थीं ।

मैंने पूछा—"क्या बात है, मंजरी ?"

"कुछ नहीं । यों ही ।"—नीचे सिर झुकाए उसने उत्तर दिया और बाथरूम में चली गई । नहाकर लौटी तो उसके घने काले बाल बिखरे हुए थे । कुछ लटें उसके चेहरे पर भी झुक आई थीं । वह मुझे बहुत सुन्दर लगी । उसका वह मासूम चेहरा ताज़े फूले हुए सागौन के बीच के पत्ते की तरह झिलमिला रहा था । उसका ऐसा सौन्दर्य मैंने कम देखा है । मैं उसके पास चला गया । उसकी ठुड्डी ऊपर उठाई । किसी स्वचालित खिलौने की तरह उसका मुंह ऊपर उठ गया । मैंने उस सौन्दर्य को आंख भरकर देखा । तभी उसकी आंखों से आंसू बहने लगे । यह क्या ? मैंने उसे अपनी बांहों में ले लिया···।

—"क्या हो गया, मंजरी ?"

वह सिसकने लगी । मुझसे लिपट गई । मैं बराबर उसके बालों पर हाथ फेरता रहा । मैंने कई बार उससे पूछा, उसने रोने का कारण न बताया । जब वह रो चुकी तो बोली—"मेरा मन फटा जा रहा है ।"

मैंने कहा—"वह क्यों ?"

उसने कहा—"आज तुम जा रहे हो । मैं अपने देवता से दूर हो रही हूं । दूर होते हुए न जाने क्यों मन घबराता है ।"

मंजरी की इन बातों ने मुझे भी द्रवित कर दिया । कितना प्रेम है उसके मन में ! उसके हृदय में कितना उदार सागर लहरा रहा है ! मेरा मन कमज़ोर हो उठा । मुझे लगा मैं अपने गांव जाने की कल्पना ही न करूं । मंजरी के साथ रह-कर जीवन गुजार दूं । पुरुष को एक नारी का प्यार ही तो चाहिए । मंजरी से अधिक प्यार और कौन नारी दे सकती है ?

मेरे सामने केतकी का चेहरा आ गया । वह जो दिन-भर बच्चों से उलझती

रहती है। फिर मुझसे झगड़ती है। मैंने उसे सर्पिणी की तरह फुसकारते ही अधिक देखा है। जब मैंने उसका ताज़ा-ताज़ा घूंघट उठाया था और पहली बार उसे छुआ था, तो उस छुअन में कितनी गरमी थी! ज़रा-से स्पर्श से वह छुई-मुई हो गई थी। उसका वह लाज-भरा नाज़ुक बदन किसी कोमल लता की तरह कांप रहा था। तब मैंने सोचा था, इससे ज़्यादा मुझे चाहिए क्या? उसके बिना तब एक पल रहना मेरे लिए दूभर था। मुझे याद है, मैं बार-बार भीतर जाता था, सिर्फ केतकी को देखने। जितनी बार देखता, हर बार वह एकदम नई दिखाई देती। चाचाजी और माताजी कई बार हंस देते। कई बार उन्होंने डांटा भी है। एक बार मां ने कहा था—"एक तू ही अनोखा लड़का है, रे! क्या तेरी ही बहू आई है? छोड़ी नहीं जाती तो कमर में बांध ले!"

मैं तब भी न माना था। पर अब···। अब उसका वह रूप कहां गया? धीरे-धीरे वह छुअन ठंडी होती गई। वह रेत की तरह फिसलकर भी उतनी ही सूखी लगने लगी। उसे समझना मुश्किल हो गया। उसका सौम्य रूप प्रचंड होता गया। मैं सोचता था, ऐसा क्यों हुआ? मैंने क्या गलती की है? मुझे इसका कोई उत्तर नहीं मिला था। आज भी नहीं मिल पा रहा है।

शादी भी क्या है! कितना उत्साह होता है पहले-पहले! और फिर धीरे-धीरे दोनों कितने ठंडे पड़ते जाते हैं—क्या अधिक निकटता एक-दूसरे को एक-दूसरे से छीन लेती है?···नहीं, शायद इसके भीतर कुछ और है। नारी विवाह होते ही निश्चिंत हो जाती है और अपने पुरुष के साथ एक खरीदे हुए गुलाम की तरह पेश आने लगती है। समय के साथ आदमी आगे बढ़ जाता है और स्त्री वहीं बंधी हुई समय के पीछे छूट जाती है।

केतकी को देखकर मेरा मन कभी बांसों उछलता था। दिन-भर वह घूंघट में रहती थी और मुझे लगता रहता था जैसे यह कोई जादुई चिराग है, जो रात को मेरे हाथों खुलेगा और एक ऐसी रोशनी दे जाएगा जो अगली रात तक मेरे साथ चलती रहेगी।

दिन-भर वह सास-ससुर, ननद और दूसरे लोगों के बीच घिरी रहती। तब भी कभी रसोई घर में और कभी नहाने की जगह एकांत में मैं उसके पास पहुंच ही जाता था। वह बिजली के तार की तरह कांपती हुई धीरे-धीरे मुझसे सट जाती और फिर अचानक छूटकर भाग जाती, क्योंकि तब उसे किसी के बुलाने

की आवाज़ सुनाई दे जाती थी। लेकिन वह एक क्षण कितना-कुछ दे जाता था! इसी एक क्षण के लिए तो बाकी सारा समय गुज़ारा जाता है।

मैं एक पिछड़े हुए परिवार का प्रतीक हूं। वहां सब-कुछ पुरानी मान्यताओं और परम्पराओं पर चलता रहा है। इन परम्पराओं में, सच देखा जाए तो, विवाह चाबी-भरा एक खिलौना मात्र है। सुनता हूं, लोग कश्मीर जाते हैं, कन्याकुमारी जाते हैं और वहां अपनी 'सुहागरात' मनाते हैं। मेरे लिए तो सब-कुछ उस बन्द कमरे में रहा है। यदि कोई आज़ादी थी तो उसका ज्ञान उस छोटी-सी खिड़की से होता था, जिससे बाहर झांककर अंधेरी दुनिया को हम देख सकते थे। परन्तु उसे देखने का भी उत्साह कहां था! उसके सहारे केवल आवारा कुत्तों के भौंकने की आवाज़ें ही सुनी जा सकती थीं। वह पूरा कमरा लगभग एक जेल था।

मैं केतकी को फिर क्यों दोष दूं! उसकी क्या गलती है? जिस जड़ता का मैं शिकार हूं, उसी की शिकार वह है। वह भी मेरी तरह विवश रही है। उसका दोष नहीं है। किन्तु क्या यह सोचकर ही मैं संतोष पा सकता हूं? आज मेरे घर में जो होता है, क्या वह मिट सकता है? क्या केतकी फिर पहले की तरह हो सकती है? मेरा मन दृढ़ता से कहता है, नहीं···। कभी नहीं···। कल फिर लौटकर नहीं आता। जो बीत गया वह चला गया। अब बीते क्षण मेरे लिए दुर्लभ हैं। उन्हें पाने के लिए मुझे मरना होगा। दुर्गा को मरना होगा। हम फिर जन्म लेंगे। फिर पति-पत्नी बनेंगे। तब कहीं···! लेकिन क्या यह भी सम्भव है? क्या सचमुच पुनर्जन्म होता है? मैं नहीं मानता। और यदि होता भी होगा, तो क्या हम फिर उसी रूप को पा सकेंगे? यह मैं असम्भव मानता हूं। इसलिए कि यदि वही रूप मिला भी तो हमें इस ज़िन्दगी की स्मृति तो रहेगी नहीं। स्मृति के परे सब-कुछ नया है। जहां विस्मृति की रेखा स्पर्श करती है, वहीं नवीनता का आभास होता है।

इसलिए केतकी ठंडी ही बनी रहेगी। मैं घर जाऊंगा तो दो-चार दिन ठीक बीतेंगे। क्या जाने वे भी बीतते हैं कि नहीं। और फिर···फिर वही एक के बाद आए हुए अनचाहे बच्चों का जमघट हमें अपने-आप से छीन लेगा। सब-कुछ कितना बेमानी और उलझा हुआ है! ···मंजरी रोती है, इसलिए कि मैं उसे छोड़कर जा रहा हूं। वह अकेली रहेगी। मेरी आत्मा रोती है, इसलिए कि मैं खुली हवा से निकलकर सड़ी-गली भूमि पर फिर लौट रहा हूं। वहां दिन-रात

कलह है, रोना-पीटना है। शांति नहीं है। वहां प्रेम नहीं है। वहां विवाह जैसे रूढ़िग्रस्त और पुरातन, जर्जर बन्धन में फंसा एक दयनीय जोड़ा सिसक रहा है। वह गीली लकड़ी की तरह न तो जल पाता है और न बुझ सकता है। उस लकड़ी से निकलते धुएं में घुटने-भर का अधिकार उसके पास शेष है।

मंजरी अब भी रो रही थी। मैं भी रोने लगा और दोनों काफी देर रोए। दोनों ने किसी तरह मन हलका किया। मंजरी बोली—"तुम भी दुःखी हो रहे हो। मैं जानती हूं, तुम मुझे चाहते हो। मुझे अकेला छोड़ना नहीं चाहते। पर नीरू, मैं यह नहीं समझ पाती कि आखिर तुम मेरे कौन हो। तुम्हारे मन में मेरे प्रति यह करुणा क्यों है ? मुझमें ऐसा क्या है, जिसने तुम्हें बांध लिया है ?"

मैंने अपने आंसू पोंछे। बोला—"कुछ भी नहीं और सब कुछ तो है। पर क्या नहीं है, और क्या है, मैं नहीं जानता। मेरा मन जो अनुभव कर रहा है, उसके लिए शब्द नहीं हैं।"

मंजरी ने मेरी देह पर हाथ फेरते हुए कहा—"अपने मन को मत बांधो, नीरू ! बन्धन तुम्हारे लिए सुखकर नहीं होंगे। तुम जाओ···। मैंने केतकी को वचन दिया था, तुम्हें लौटाने का। वह कितनी उदार नारी है ! उसने मेरे साथ तुम्हें यहां आने दिया। उसके विशाल हृदय को पहचानो ! ऐसी नारियां कम होती हैं। अपने पुरुष को दूसरों के हवाले करने का साहस कम स्त्रियों में होता है। तुम जाओ और मुझे भूल जाओ ! केतकी को पूरी तरह अपनाने का यत्न करो, इसी में सार्थकता है।"

मंजरी मुझसे अलग हो गई। वह मेरा बिस्तर बांधने लगी। मैं देख रहा था, उसके नेत्र आंसुओं से डबडबाए थे। वह उन्हें चुपचाप पोंछ लेती थी। पर वे फिर-फिर भर आते।···तब भी मंजरी ने मन कड़ा कर लिया था। मैं उसे देख रहा था और मेरी आंखें पथराई थीं। घड़ी के कांटे मानो तेज होते जा रहे थे। हमारे बिछुड़ने की घड़ी पास आती जा रही थी। मैं अपने मन को बार-बार समझा रहा था—'मंजरी तुम्हारी कोई नहीं है। फिर क्यों व्यर्थ अपने मन को जलाते हो ?' पर मन नहीं माना, वह रोता रहा। बाहर के आंसू तो सूख गए, पर मन भरता गया।

अब तक शेखर आ गया था। वह सीधे हमारे कमरे में आया। आते ही

उसने पूछा—"जा रहे हो, निरंजनसिंह ?"

मैंने पूरी ताकत से अपने आंसू भीतर रोके। वह मेरी यह व्यथा जानेगा तो क्या कहेगा ?

मैंने कहा—"हां भाई, साढ़े छः बजे हावड़ा मेल जाता है।"

शेखर मेरे पास आकर एक पेटी पर बैठ गया। उसने मंजरी से पूछा—"कमला आई थी ?"

उसने कहा—"हां। उसने आज से मुझे पढ़ाना भी शुरू कर दिया है।"

—"पढ़ने में तुम्हारा मन लगता है ?"

—"खूब !"

—"पढ़ लो, फिर सब ठीक हो जाएगा।"

मैंने कहा—"मंजरी, शेखर ठीक कहते हैं। पढ़ाई-लिखाई ही सब-कुछ है। मन लगाकर पढ़ना। मुझे भूलने की कोशिश करना। जब तुम पढ़-लिख जाओगी, तब मैं फिर तुम्हें देखने आऊंगा। देखूंगा, आज की मंजरी कल क्या बनती है !"

मंजरी ने भरे गले से कहा—"शेखर के रहते मुझे चिन्ता नहीं है। परदेश में मुझे भाई मिल गया। तुम निश्चिन्त रहो। मैं अपने मन की सारी ताकत लगा दूंगी। जितना हो सकेगा, पढ़ने का यत्न करूंगी। और तुम भरोसा रखो, तुम कभी भी आओ, मंजरी, तुम्हारी है। तुम्हारे लिए वह वही रहेगी जो आज है। तुम्हारे कारण ही मैं आज जीवित हूं, वरना···। मेरी हर सांस तुम्हारा नाम लेती रहेगी। मरूंगी तो भी तुम्हारा नाम रहेगा। पुनर्जन्म हो तो यही चाहूंगी, फिर तुम मिलो। जन्म-जन्मान्तर तक मैं तुम्हारे साथ बंधी रहना चाहती हूं।"

मंजरी की भावनाएं कितनी सहज हैं ! वह कितनी उदार है !

टैक्सी आ गई थी। हमने सामान रखा। तभी शोभना आ गई। उसे मालूम था, मैं आज जा रहा हूं। वह मुझे भेजने ही आई थी। शेखर को किसी सभा में जाना था। मैंने हाथ जोड़े। उसके गले लगा। मैंने कहा—"बम्बई जैसी महा-नगरी में तुम्हीं मंजरी के सब-कुछ हो। उसने तुम्हें भाई माना है। मैं उसे तुम्हें सौंपकर जा रहा हूं।"

शेखर ने मेरी पीठ पर हाथ रखा। बोला—"मैं ऐसे रिश्ते मानने का आदी नहीं हूं, लेकिन मंजरी को परेशान होने की जरूरत नहीं है। वह मुझपर

विश्वास रखे, उसी में बल है ।"

टैक्सी रवाना हो गई। मेरे साथ मंजरी और शोभना थीं। दादर पर हम उतर गए। शोभना को मैंने समझाया, मंजरी का भार उसपर भी छोड़ा। मंजरी से चाहकर भी फिर कुछ बात नहीं कर पा रहा था। सारे अन्तर में एक ज्वार था, वह जैसे चीख रहा था। तभी गाड़ी प्लेटफार्म पर लग गई। सामान रखकर मैंने मंजरी के हाथ पकड़े तो वह रो पड़ी। मैंने कहा—"पगली, जब कहेगी फिर आ जाऊंगा। मनीआर्डर हर महीने मिलता रहेगा। अब तो तुम खूब अच्छी तरह पढ़ भी लोगी।"

मंजरी ने सिर्फ सिर हिला दिया। वह आंसू पोंछती रही। मैं इतने लोगों के सामने आंसू तक आंखों में न ला सका। सीटी बजी और गाड़ी धीरे-धीरे चल दी। मैं उन्हें तब तक देखता रहा, जब तक वे आंखों से ओझल न हो गईं। दोनों हाथ हिला-हिलाकर वे मुझे विदा देती रहीं। रेलगाड़ी हिलते हुए कपड़े की तरह प्लेटफार्म से बाहर निकली और फिर उन कपड़ों के रंगों में खो गई।

मेल की गति अब तेज़ थी। वह इस गति से चीखता-चिल्लाता भागा जा रहा था, जैसे कोई कुमारी-गर्भवती अपने प्रेमी की प्रवंचना से विकल होकर किसी कुएं की ओर भागी जा रही हो। डिब्बा ठसाठस भरा था, पर मुझे सब सूना लगता···। जैसे वहां कोई है ही नहीं। बाहर देखने को मन नहीं हुआ। देख भी नहीं सकता था। डिब्बा ठसाठस भरा था। भीड़ का कोलाहल उसे भारी बना रहा था। मझे एकांत और तनहाई की जरूरत थी, लेकिन अपना चाहा कब मिलता है! खिड़की बन्द कर मैं ऊपर की बर्थ पर चला गया और लेट गया।

१८

मंजरी : परिवर्तन

निरंजन चला गया। स्टेशन से लौटते समय शोभना ने कहा था—" 'मराठा मंदिर' में नई पिक्चर लगी है, चलो देख लें।" मेरा जी भी घर लौटने को नहीं हुआ। अकेली वहां क्या करूंगी ? सेकण्ड शो हम लोग देखने चली गई। चित्र अच्छा था, यह शोभना कहती थी। मुझे तो कुछ अच्छा नहीं लगा। इंटरवल में ही मैं भागने को तैयार हो गई। शोभना का मन खूब लग रहा था, इसलिए मुझे विवश होकर बैठना पड़ा। आधी रात को सिनेमा छूटा। शोभना मुझे जुहू तक पहुंचाने आई। तब शेखर के कमरे की लाइट जल रही थी। मैंने कहा—"यहीं रह जाओ !"

वह बोली—"नहीं, पिताजी नाराज़ होंगे।"

वह शेखर से बिना मिले ही चली गई। मैंने अपने फ्लैट का ताला खोला और लाइट बुझाकर सो रही। उस अंधेरे में मेरा अंधेरा मन कितना विकल था···! रात-भर नींद नहीं आई और तरह-तरह के विचार आते रहे।

सुबह शेखर ने मुझे जगाया। न जगाता तो शायद मैं सोती रहती। नींद तो तब भी नहीं थी, पर बिस्तर में लेटी ज़रूर थी। मन और मस्तिष्क दोनों खाली थे। कोई विचार मन में था नहीं; बस, यों ही अपलक कमरे की छत को देख रही थी। शेखर के जगाने पर उठ बैठी। मैंने दरवाज़ा खोला तो वह अपने हाथ में चाय लिए था। मैं दंग रह गई···! यह अच्छा नहीं लगा मुझे। इतना बड़ा आदमी, मुझे चाय दे ! पर गलती तो मेरी थी। बाहर काफी धूप निकल आई थी। अब तक मुझे उठ जाना चाहिए था। मैंने उसका बहुत आभार जताया, और उठकर चाय ले ली। वह भीतर से दूसरा कप ले आया और मेरे ही दरवाज़े पर आकर खड़ा हो गया। हम दोनों चाय पीने लगे।

उसने कहा—"शायद रात सोई नहीं ?"

मैंने सत्य को छिपाना चाहा। बोली—"नहीं, खूब सोई हूं ! इसी से उठने में

देर भी हो गई।"

वह हलके से मुसकरा दिया। बोला—"तुम ठीक कहती हो। पर तुम्हारी ये आंखें ही झूठ बोलती हैं।"

मैं लजा गई। दरवाज़े की ओट में मैंने अपना मुंह पोंछा। मेरी आंखें भारी थीं और सारे बदन में हलका-सा दर्द था। सिर भी कुछ भारी था और आंखों में जलन थी और जी बार-बार अंगड़ाई लेने का हो रहा था। एक अजीब खुमारी-सी थी। उसने कहा—"ऐसा ही होता है, मंजरी। मुझसे छिपाओ मत।"

हम दोनों चाय पी चुके थे। मैंने उसके हाथ से कप-बसी ले ली और अंदर बाथरूम में जाकर रख आई। मैंने शेखर को भीतर बुलाया तो वह आ गया। बोला—"अब सब-कुछ भूल जाओ! तुम बम्बई में हो। बम्बइया बनने की कोशिश करो! मन लगाकर खूब पढ़ो! पढ़ाई ही तुम्हें नई ज़िन्दगी देगी!"

मैंने कहा—"तुम्हारे सहारे हूं। जो कहोगे करूंगी।"

उसने कहा—"कोई किसी के सहारे नहीं रहता। सहारा कोई दे भी नहीं सकता। सहारे पर रहने की कल्पना छोड़ दो। इससे तुम्हारे मन में हीनता जाग्रत होगी। दासत्व तुम्हारे व्यक्तित्व को उभरने नहीं देगा। अपने मन पर विश्वास करो और अपनी आत्मा को पहचानो।"

मुझे शेखर की बातें बहुत भाईं। डूबते को तिनका काफी होता है, शेखर तो किनारा है। मैंने उसे अपनी नन्हीं आंखों से देखा। शेखर का वह रूप सामने आ गया, जो मैंने पहले दिन देखा था। दूध से सफेद कपड़ों पर वह बंडी पहने था, चीते जैसी बंडी। उसके यहां रोज़ कोई-न कोई लड़की आती है। लड़कियों का आना और चीते की बंडी पहनना मुझे एक-दूसरे के पूरक जान पड़े थे। मैंने तब उसे पहचानने में गलती की थी। सोच रही थी, ऊपर से उजला यह आदमी भीतर काला होगा। पर मेरा अनुभव कितना हीन था! मैंने सदा गलती ही की है। सदा गलत ही सोचा है। शेखर भीतर-बाहर एक है। वह दोनों में भेद रखना नहीं जानता। जो करता है, साफ है। छिपाना उसने सीखा नहीं। आज मुझे वह बहुत भला लगा। मैं उसे देखती रही।

उसने कहा—"अब जाता हूं। नहा-धो लो। खाना आज मेरे साथ खाओगी।"

वह एकदम बाहर चला गया, परन्तु एक मिनट में ही वह फिर लौटा।

एनासिन की एक पुड़िया उसने मुझे दी। बोला—"इसे खाकर पानी पी लो ! ठीक हो जाओगी।" यंत्र की तरह मैंने उसकी बात मान ली।

नहा-धोकर लौटी तो शेखर के कमरे से मुक्त हास्य के कहकहे सुनाई दे रहे थे। वहां शोभना थी। कह रही थी—"कल मंजरी को लेकर पिक्चर गई थी। बढ़िया थी वह। आज फिर देखेंगे।"

शेखर ने उसकी बात मान ली थी। कह रहा था—"मंजरी को भी ले चलेंगे। अकेली है, घबराएगी। लड़की बड़ी भोली है। न जाने किसके चक्कर में पड़कर कष्ट उठा रही है। उसका चेहरा बेहद मासूम है। मुझे तो बड़ी दया आती है।"

मैं क्या कहूं। भीतर पलंग पर जाकर मैंने तीन कुलाटें भरीं। शेखर को बार-बार सिर झुकाया। इस छल-कपट की दुनिया में सब एक-से नहीं हैं। पुण्य अभी भी जिन्दा है। शायद उसी के सहारे पाप की गिनती होती है। शेखर कितना बड़ा है···। एक वट वृक्ष की तरह वह खड़ा है···। वैसी ही विशालता है उसमें। उसके मन की छाया में कितनी शीतलता है !

शोभना ने मुझे आवाज़ दी तो मैं चली गई। शेखर ने कहा—"बैठो !" मैं उसके पलग के पास पड़ी कुरसी पर बैठ गई।

शेखर ने पूछा—"अब कैसा लग रहा है ?"

मैंने कहा—"काफी हलकी हो गई हूं। धीरे-धीरे सब ठीक होता जा रहा है।"

शोभना ने व्यंग्य किया—"कल तो यह बहुत उदास-सुस्त थी। इतनी सुन्दर पिक्चर···और यह कह रही थी—घर चलो।"

मैंने फिर सिर झुका लिया, मुझे लज्जा आ गई थी। शेखर ने कहा—"आज हम तीनों उसे फिर देखेंगे। ठीक है न ?" उसने मेरी ओर देखा, मैंने हामी भर दी।

दोपहर को हम तीनों ने साथ खाना खाया। हम तीनों खूब हंसते-गाते रहे। बड़े मज़े में दो घंटे बीत गए। लौटकर शेखर ने मुझे पढ़ाना शुरू कर दिया। उसने एक कहानी बताई। कहानी यों थी :

"बात एक हज़ार साल पहले की है। कश्मीर में अवन्तिवर्मा के शासन काल में जेहलम नदी की बाढ़ ने पूरे इलाके को जल-प्लावित कर दिया। जेहलम

मूर्तिमान संहार बन गई। बीमारी, भुखमरी आदि से सुन्दर काश्मीर का बुरा हाल हो गया। अवन्तिवर्मा की समझ में नहीं आया कि वह क्या करे। तब सूय्या नाम का बुद्धिमान आदमी राजा के पास आया और बोला—'दस-हज़ार मोहरें मिलें तो समस्या का हल बताऊं।'

"बात तय हो गई, राजा राजी हो गया और मोहरें दे दी गईं। बारह घड़ों में मोहरें लिए बारह आदमी सूय्या के पीछे चले। सूय्या ने रास्ते में लोगों से कहा कि वह ये मोहरें नदी में डालने जा रहा है।

"लोगों ने इसे सूय्या की सनक समझा और वे उसके पीछे लग गए। सूय्या ने खूब सूझ-बूझ के साथ मोहरों से भरे घड़े नदी की एक सबसे पतली धार पर उंड़ेलने शुरू कर दिए। लोभ में लोगों के दल के दल बाढ़ में कूद-कूद कर मोहरें खोजने लगे। सहसा मोटी-मोटी चट्टानों और लकड़ी के लट्ठों ने जमा होकर बहाव का जो मार्ग रोक रखा था, वह साफ हो गया और इस तरह काश्मीर प्रलय से बचा लिया गया।"

कहानी खतमकर उसने मुझे देखा। बोला—"एक सूय्या ने हज़ारों लाखों के प्राण बचाए। तेरे साथ तो अनेक सूय्या हैं। तू अपने को उनके हवाले कर दे। फिर देख···!" शेखर की इस बात में मेरे प्रति गहरी आत्मीयता थी।

मैंने कहा—"मुझे घबराई हुई क्यों समझते हो ?"

शेखर खड़ा हो गया। उसने मेरी पीठ थपथपाई और बोला—"शाबाश ··!"

नौ बजे रात को पिक्चर छूटी। दस बजे हम अपने फ्लैट में पहुंचे। शोभना शांताक्रुज़ में ही रह गई थी। उसे अपने घर वापस जाना था। हम दोनों अब अकेले थे। लौटकर आए तो मिस गोरावाला के यहां सगीत की बहार थी। तेज़ बल्ब जल रहा था, वहां से गाने-बजाने और घुंघरुओं की आवाज़ आ रही थी। शेखर ने कहा—"चलो देखें!" हमारे जाते ही सब खूब ज़ोर से हंसे। गोरावाला ने मुझे अपने बाजुओं में ले लिया। बोली—"समय पर आई हो।"

उसकी आवाज़ के साथ ही एक तीखी दुर्गन्ध आई। यह क्या ? मैंने मुंह बिदकाया। वह तो शराब पिये थी। वहां से हटकर मैं शेखर के पास आ गई। वहीं मिस कमला अय्यर बैठी थी। वह आज मुझे ज़रूर पढ़ाने आई होगी। मैंने उसके कान में कहा—"माफ करना, शेखर जबरन ले गया था।"

उसने कहा—"कोई बात नहीं।"

उसके स्वर के साथ भी एक दूसरी तरह की गंध आई। शायद उसने भी कुछ शराब पी रखी थी। यह सब मुझे अच्छा न लगा। मैंने शेखर से कहा—"यहां तो सब पिये मालूम होते हैं।"

वह बोला—"घबराओ नहीं। मैं जानता हूं। ये सब पीने के शौकीन हैं। पर यहां कोई कभी होश नहीं खोता। अपने को भूलने के लिए कभी-कभी ये यह दवा ले लेते हैं।"

कमला अय्यर उठकर बीच में आ गई। तबलेवाले ने उसके पैरों को देखा। मिस गोरावाला ने घुंघरू की दो लड़ियां उसकी ओर फेंकीं। उन्हें बांध-कर वह नाचने लगी। मैं नहीं जानती थी, कमला नाचती भी है। उसकी छूमछनन और 'ता धिन-धिन ता' की तबले की थाप मिलकर एक हो रही थीं। उसके पैर हवा में तैर रहे थे। उनमें तेज़ गति थी। तबलेवाला परेशान था। दोनों में होड़ लगी थी। आखिर तबलची को हारना पड़ा। कमला नाचकर बैठने लगी तो शेखर ने मेरा हाथ पकड़कर मुझे मैदान में उतार दिया। मैं इसके लिए तैयार नहीं थी। वहां खड़े होकर नाचना मुझे अच्छा नहीं लगा।

मैंने कहा—"मुझे नाचना नहीं आता।"

सब ज़ोर से हंसे। मिस गोरावाला बोलीं—"जैसा आता हो, वैसा ही सही।"

मैं खड़ी रही तो वह स्वयं आकर नाचने लगी। उसका नृत्य क्या था! उसे देखकर सब हंसे, खूब ज़ोर से हंसे। जब हंसी बंद हुई तो शेखर बोला—"यहां सब अपने हैं, कोई पराया नहीं है। हिचको मत। जैसा आता हो वैसा ही सही। एक लड़की के लिए नाचना क्या कठिन है! अपनी देह हिला दे कि वही नाच हो जाता है।"

शेखर की बातें सुनकर मैंने घुंघरू बांधे। घुंघरू बांधते ही भूली ज़िन्दगी याद आ गई। एक दिन ऐसे ही मैंने घुंघरू बांधे थे और फिर मुश्किल से वे बेड़ियां कटी थीं। मेरे मन में एक दर्द उभर आया। मैंने अपनी आंखें ऊपर उठाईं। कई आंखें मुझे घूर रही थीं। शेखर मानो कह रहा था—"झिझको मत।" मेरे पैर उठ ही गए। जैसा आता था, नाचने लगी। जब नाच बन्द हुआ तो तालियों की गड़गड़ाहट से वह कमरा गूंज उठा।

—वन्स मोर !

—वन्स मोर ! !

कई स्वर निकले, पर मैं वहां ठहर नहीं सकी और कमरे के बाहर चली गई। मैं अपने कमरे में जाकर सो रही। शेखर तब वहीं बैठा था। जब तक नींद नहीं आई, नृत्य-संगीत के स्वर मैं बराबर सुनती रही। कब मजमा खतम हुआ, मुझे पता नहीं। नींद ने किसी एक हलके से क्षण में आकर मुझे दबोच लिया था !

१९

शोभना : मुसाफिर जागा

तेरी गठरी में लागा चोर,
मुसाफिर जाग ज़रा ।

यह स्वर मंजरी का था। जब मैं उसके फ्लैट में पहुंची, तब मैंने उसे गाते हुए सुना था। अब वहां मेरे दो साथी थे—शेखर और मंजरी। शेखर से मिलने का एक क्रम था, एक समय था। किन्तु मंजरी जबसे मुझे मिली है, यह फ्लैट मेरा दूसरा घर हो गया है। उसके साथ रहने का हमेशा जी होता है। इसके क्या आकर्षण हैं, नहीं जानती, पर एक नारी भी दूसरी नारी को आकर्षित कर सकती है, यह मैंने अब जाना है। मंजरी बहुत सीधी है। बड़ी भोली और मीठी है। जब भी मैं जाती हूं तो वह कुन्दकली जैसी खिल उठती है। किसी के यहां जाते ही पता लग जाता है कि उसे आने की खुशी हुई है या नहीं। मंजरी अपनी खुशी का एहसास एकदम करा देती है।

जब आज पहुंची तो वह चाय बना रही थी और गीत गा रही थी। वह बड़े राग से गा रही थी। दरवाज़ा खुलने के पहले मैंने उसका कंठ ध्यान से सुना। जब भीतर गई तो मैंने कहा—"तुम तो बहुत अच्छा गाती हो।"

"नहीं, मैं तो गुनगुना रही थी। गाना मुझे कहां आता है?"—वह भोलेपन से कह गई। चाय बन गई थी। उसने कहा—"शेखर को उठा दो, शायद अभी तक सो रहा है।"

"तू ही उठा उसे। मैं उठाने जाऊंगी तो पहले 'हां-हूं' करेगा और फिर मुझे ही अपने बिस्तर में खींच लेगा।" मैंने सहज ढंग से कह दिया। मंजरी ने एक नई नज़र से मुझे देखा।

मैंने कहा—"हां, सच कहती हूं। मैं जो कहती हूं, छिपाती नहीं। मैं सचमुच शेखर को प्यार करती हूं।"

मंजरी चाय लेकर चली गई। मैं दरवाज़े से झांककर देख रही थी। शेखर तब सोया नहीं था, वह दाढ़ी बना रहा था। मंजरी ने चाय का कप उसे दिया तो वह बोला—"तुम मेरे लिए कितना कष्ट उठाती हो···!"

उसने कहा—"तुम्हारे पीछे मैं व्यवस्थित होती जा रही हूं। अकेला जीवन न जाने कैसा होता है। सोचती हूं तो मन तुम्हें हज़ारों दुआएं देने लगता है। मेरे जीवन में तुम एक देवदूत की तरह आए हो, शेखर!"

शेखर ने एक घूंट चाय पी और बोला—"अरे, इसमें तो ढेर-सा प्यार घुला है! कहां से इतना प्यार पाया तुमने?"

वे दोनों ज़ोर से हंसे।

मंजरी को यहां आए साल-भर से कुछ कम हुआ है। अब वह कितनी बदल गई है। कितनी व्यवस्थित हो गई है! हम सबके साथ घुल-मिल गई है। देहात की अपढ़ लड़की इतनी जल्दी हमारा एक अंग बन जाएगी, मैंने नहीं सोचा था। अब वह अपने वस्त्रों के प्रति भी सावधान है। उसका फ्लैट साफ-सुन्दर रहने लगा है। सुबह नियमित समय पर उठती है। पढ़ने में उसका खूब मन लगता है। छः महीने में उसने काफी पढ़ लिया है। लगता है, जैसे उसे सब-कुछ आता था, वह केवल भूल गई थी; जैसा अक्सर किसी दुर्घटना के घट जाने से होता है। अब उसकी स्मृति फिर लौट आई है। निरजन का जब पत्र आया था तो उसने खुद उत्तर दिया था। कितनी सरलता से वह उतनी बड़ी बात लिख गई थी:

"···अच्छी हूं। खूब पढ़ने लगी हूं। एक जगह पढ़ा है—

'दुनिया के प्रारंभ में क्या था?
एकमेव मिट्टी ही थी।
दुनिया के वर्तमान में क्या है?
सर्वप्रथम तो मिट्टी ही है।
दुनिया के अंत में क्या होगा?
एकमेव मिट्टी ही रहेगी।
मिट्टी ही मापती है अनंत को।
जो बनता है वह गलता है।
देह गलती है, धातु छीजती है;
केवल मिट्टी नहीं सड़ती।'

आगे इसके मैं सोचती हूं, तभी इस मिट्टी से मानव को इतना प्यार है। तभी इसी मिट्टी में इतने सुन्दर फूल खिलते हैं। मिट्टी एक है, फिर भी उसका हर टूकड़ा अलग है। जिस टुकड़े में तुमने मुझे लगा दिया है, वह शायद मिट्टी का सबसे प्यारा किनारा है। अब मेरी चिंता मत करो। तुम्हारी मंजरी अब फूलने और महकने लगी है। मेरे ढेर-से प्यार लो और इन्हें बांधकर रख लो।

तुम्हारी,
मंजरी"

मंजरी का यह पत्र मैंने कई बार पढ़ा था। शेखर से भी इसकी बात की थी। हम दोनों खुश थे। उसकी बुद्धि को एक चमत्कार मान गए थे।

मैं उसे पढ़ाती हूं, पर कम। उसपर सबसे ज़्यादा मेहनत मिस कमला अय्यर करती है। वह अंग्रेजी पढ़ाती है। शेखर रोज हिन्दी पढ़ाता है और अब मंजरी स्वयं इनके भी आगे पढ़ लेती है। मैं हैरान थी। समय आदमी को कितना बदल देता है। उसके हाथों में कितनी ताकत है!

शेखर ने चाय पी ली थी। मंजरी ने कहा था—"वह भी आई है।"

"वह कौन?"—शेखर ने पूछा था।

उसने कहा था—"उसे भाभी नहीं कहती, इसलिए पूछते हो न?"

शेखर हंसा था। बोला—"मैं नहीं जानता मंजरी, तुम भाभी किसे कहती हो। मेरे पास एक नहीं, कई लड़कियां आती हैं मैं उन सबसे प्यार करता हूं। इसलिए कि प्यार करना हमारा धर्म है। प्यार के बिना यह दुनिया सूखी रेत से ज़्यादा नहीं है। यहां आदमी बंधा रहना चाहता है, क्योंकि बंधन में आशा है और आशा गर्भिणी होती है।"

मंजरी बोली—"अरे, तुम तो भाषण देने लगे!"

उसने कहा—"भाषण नहीं दे रहा, सच कह रहा हूं।"

वह उठकर खड़ा हो गया था। बोला—"पर मैं सोच सकता हूं, तुम किसकी बात करती हो।"

मंजरी ने कहा—"अच्छा, बताओ तो सही।"

उसने कहा आवाज़ ही क्यों न लगा दूं—"शोभना ऽ ऽ ऽ ओ शोभना···!"

मेरे पूरे शरीर में एक विचित्र सरसराहट होने लगी। देह चिनचिना उठी। स्फुरण से मेरे रक्त का वेग बढ़ गया। मैं वहां खड़ी न रह सकी। तभी शेखर

ने मेरे हाथ पकड़ लिए और मंजरी के सामने ही चूम लिया। उसका इस तरह चूमना मुझे अच्छा लगा। हम तीनों खूब हंसे। काफी देर बाद हमारी हंसी रुकी। हम तीनों ने एक-दूसरे की ओर देखा, तीन होकर भी हम कितने एक हैं!

शेखर ने मुझसे कहा—"मंजरी तो अब खूब पढ़ने लगी है।"

मैंने कहा—"हां, और वह उपदेश भी देती है।"

"क्यों ?"—शेखर ने अचरज से पूछा।

जवाब मंजरी ने नहीं, मैंने दिया—"हां, आज जब आई थी, तब यह गा रही थी, 'तेरी गठरी में लागा चोर, मुसाफिर जाग ज़रा।'"

शेखर ने कहा—"अरे, यही गा रही थी क्या ? मैंने यह गीत सुना था, पर सोचता था कहीं रिकार्ड बज रहा है।"

मंजरी के चेहरे पर तब हल्की-सी गरमी उतर आई थी। अपनी प्रशंसा सुनकर वह खुश थी। बोली—"हटो भी। मज़ाक करना कोई तुमसे सीखे।"

हम तीनों बाहर आए। तब बाल सूर्य की अंगुलियों ने सुबह की राजकुमारी के गुलाबी वक्ष पर बिखरे गेसुओं को हटा दिया था और सामने सुनहली तरुणाई बिखर गई थी।

शेखर ने मंजरी को देखा। वह बोला—"बस, अब तुम टीचर हो जाओगी। छोटे-छोटे लड़के तब तुम्हें 'मिस' कहेंगे।"

उसने तुरन्त उत्तर दिया—"सो अभी कौन नहीं कहता ?"

मैंने देखा उसकी यह आवाज कांप रही थी। उसी आवाज़ में उसने कहा—"लड़कों का मैं यह शब्द कभी नहीं कहने दूंगी।"

मैंने पूछा—"क्या कहलाओगी उनसे ?"

उसने कहा—"सिस्टर। बस सिस्टर...।" इस दुनिया का सबसे पवित्र नाता...। मिस शब्द बहुत भ्रामक है। उसे सुनकर मन के भीतर का कुछ हिलने लगता है और घड़ी के पेंडुलम की तरह चक्कर काटने लगता है। उससे तब एक दर्द पैदा होता है...।"

शेखर ने बीच में रोककर कहा—"इस तरह व्यर्थ दर्द मत पैदा करो, सिस्टर ही कहलाओ अपने को। नाम तो मात्र प्रतीक हैं।"

तभी मिस गोरावाला अपने कमरे से निकल आई। बोली—"क्या हो रहा है ?"

शेखर ने कहा—"अपने बाल मंदिर के उद्घाटन की तैयारी कर रहे हैं। उसी के बारे में हम सब सोच रहे हैं।"

"ओ यस!"—गोरावाला ने पूछा—"कौन ओपन करता?"

मैंने कहा—"मिस गोरावाला!"

"ओ-नो, नो,"—उसने अपनी गरदन जैसे हवा में चारों ओर घुमा दी। उसके बॉबकट हेयर फैल गए।

शेखर ने कहा—"जगह तो आपने ही दी है। आपसे ही क्यों न उद्घाटन कराया जाए?"

उसने कहा—"यह काम अपना नई। किसी मिनिस्टर को बोलो। उद्घाटन-वुद्घाटन केवल मिनिस्टरों का काम है, क्योंकि उसमें बुद्धि का जरूरत नहीं होता। माइक पकड़ा और भाषण चालू—वह चाहे कारखाने का हो, धर्मशाला का, होटल का, मंदिर का या स्कूल का। उनकी दृष्टि में ये सब समान हैं।"

मिस गोरावाला की बात सुनकर हमें बहुत हंसी आई। हमने उसे बहुत समझाया पर मिस गोरावाला न मानी। उसने इतना ही कहा कि जब उद्घाटन हो तो उसकी दोनों लड़कियों को ज़रूर बुलाया जाए, वे इस समय बम्बई में हैं। इतना कहकर वह भीतर चली गई।

शेखर ने कहा—"मिस गोरावाला ठीक कहती हैं। हम किसी पेशेवर उद्घाटनकर्त्ता को ही क्यों न बुला लें! इससे यहां की जनता पर प्रभाव पड़ेगा। मैं किसी मिनिस्टर से जाकर मिलता हूं और उद्घाटन का समय तय करके आता हूं। तुम लोग यहां सजावट की तैयारी करो। निमंत्रण-पत्र आज शाम तक छपकर आ जाएंगे। रात को सब मिलकर पते लिखेंगे और पोस्ट कर देंगे।...और लड़कियां भी आती होंगी। उनसे भी काम लो। सत्या से कहना, अपनी मोटर हमें दे दे।"

सारे निर्देश देकर शेखर चला गया। मंजरी को साथ लेकर मैं काम में लग गई।

२०

शेखर : डायरी—एक बीमार शहर

...रातरानी की तरह महकती हुई खामोशी...! हां, खामोशी को पहचानने वाली आंखें होनी चाहिए, उसमें एक तरह की सुगंध होती है। यह सुगंध दिन और रात के प्रहर के साथ बदलती रहती है।...मैं आज अकेला हूं। सब लोग या तो अपने काम पर हैं अथवा फिलम देखने गए हैं। मैं थोड़ी देर पहले ही 'जहांगीर आर्ट गैलरी' से लौटा हूं।

गैलरी में मिस सूज़ा के नवीनतम चित्रों की प्रदर्शनी का मैंने उद्घाटन किया है। चुनी हुई भीड़ और चुनी हुई तसवीरें। एक सादा समारोह...! लगभग डेढ़ दर्जन रंगीन केनवासों पर मनमाने ढंग से तैरते रंग। इनमें एक तसवीर एकदम अजीब थी। गहरा काला रंग और उसी रंग में उभरी तीन रेखाओं के सहारे एक आकृति। नीचे शीर्षक है—'द एन्ड।' यह तसवीर मिस सूज़ा की नहीं है। यह किसी इटेलियन कलाकार की पेंटिंग की अनुकृति है। इस चित्र को विश्व-प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार मिला था।

मैंने ध्यान से यह पेंटिंग देखी थी...तीन लकीरों की सहायता से वहां ईसाई कब्रगाह का प्रतीक खींचा गया था। मैंने बार-बार उसे देखा था...मृत्यु की कल्पना ही काले रंग की तरह भयावह है। मुझे लगा इस पेंटिंग को पुरस्कार कलाकार के चित्र-कौशल के लिए नहीं, उसकी सूझबूझ के लिए दिया गया होगा।

गैलरी में मैंने लम्बा भाषण नहीं दिया। यदि मैं भी वैसा ही भाषण देने लगूं तो मुझमें और मंत्रियों में क्या अंतर होगा! उनके लिए भाषण देना एक व्यवसाय है, इसलिए किसी भी विषय पर बुलवाया जा सकता है।

मुझे याद है पिछले सप्ताह एक बातिक और कोलाज की प्रदर्शनी का उद्घाटन करते हुए वहां के शिक्षा मन्त्री ने चालीस मिनट का लम्बा भाषण दिया था। भाषण के अन्त में उन्होंने कहा था—"...तो मैं इस दूकान का उद्घाटन

करता हूं और आशा करता हूं...।" चित्रकार ने उसी समय मंत्री महोदय को रोक दिया था और कहा था—"धन्यवाद...!"

तालियां और तालियां ...। स्वयं मंत्रीजी तालियां बजाते हुए 'ताज गैलरी' से बाहर निकले थे !...बेहतर हो, हम राजनीति और राजनेताओं की बातें न करें।

मंगलवार : मध्यरात्रि

सत्या का पति छः महीने बाद वापस लौटेगा और उसके लिए ये छः महीने मज़े और मौज के रहेंगे...! कल का सारा दिन और सारी रात हम दोनों ने साथ बिताई। अकेले अंधेरे कोने में रात के सन्नाटे को ग्लासों में भरकर पीना भी एक अनुभव है।

रात सत्या ने कहा था—"शेखर, एकदम अकेले रहना भी कितना बेतुका है ! आज तुम मेरे साथ हो, कल...!"

"इसी कल का उपचार तो तुमने पहले ही कर लिया है।"—मैं ज़ोर से हंसता हूं—"औरतें हमेशा एक अजन्मे भविष्य को देखती हैं, वे वर्तमान से एक-दम कटी हुई होती हैं। शादी करके भी यदि तुम्हें वही मिला जो...।"

मेरे होंठों पर अपना हाथ रखते हुए वह एकदम मेरे करीब आ गई थी। उसने कहा था—"अपने पूरे भविष्य की गारंटी यदि इसी तरह मिल जाए तो क्या बुरा है...! शादी-ब्याह तो बस एक बहाना है...।"

—"तो ऐसे बहाने को स्वीकार कर एक और ढोंग क्यों ओढ़ा जाए ?"

—"तुम तो हर बात में बेमतलब पक्ष-विपक्ष देखने लगते हो। मुझे तो देखो...किसका भय है मुझे...? वह समन्दर को चीरते हुए जहाज़ में मज़े कर रहा होगा और हम...!"

सत्या बहुत ज़ोर से हंसी थी। उसपर नशा चढ़ गया था। उसका चेहरा खिंचा हुआ और आवाज गतिशील हो गई थी। उसने कहा था—'[illegible] मैंने नाच सीखा था, आज तुम्हें नाच दिखाऊंगी। शादी के बाद सब-कुछ छूट गया। उसके आते ही सब बदल जाता है। लगता है, मैं केवल उसकी देखभाल करनेवाली एक औरत हूं, या हर रात के लिए सजाई गई एक [illegible], बस...शेखर, और कुछ नहीं !"

सत्या थोड़ी देर नाची थी, लेकिन पांच मिनट में ही धम्म से मेरी गोद में आ बैठी थी। उसने मुझे कई बार चूमा था। उसी स्थिति में उसने कहा था—"तुम ठीक कहते हो, शेखर, यह सब बेमानी है। उसने फिर एक छोटी-सी कविता पढ़ी थी। उसकी अंतिम पंक्तियां थीं—

गम का हीरा दिल में रक्खो
किसको दिखाते फिरते हो
यह चोरों की दुनिया है!

मैं जानता हूं, सत्या सुखी नहीं है। अपने मनपसंद पुरुष से विवाह करने के बावजूद वह प्रसन्न नहीं है···इसमें उसका या उसके पति का या और किसी का दोष नहीं है। दोष समूची व्यवस्था का है।

···मैं विवाह को मजबूरी का कोई रिश्ता नहीं मानता। इसे अक्सर जन्म-जन्मान्तरों के सम्बन्ध के साथ जोड़ा जाता है। वे सब भटके हुए लोग यह भी नहीं समझ पाते कि दो विभिन्न दायरों, सीमाओं और विभिन्न परिवेशों में पले लोग जब एक ही स्थिति में आकर रहने लगते है तो उनका व्यतीत उनसे कैसे छूट सकता है। व्यक्ति अपने समूचे परिवेश का प्रतिनिधि है। स्वाभाविक है, ऐसे दो व्यक्तियों की रुचियां समान नहीं हो सकतीं।

···एक रात अचानक दो पलंग इकट्ठे हो जाएं तो उससे एक सत्य स्थापित नहीं हो जाता।

···पुरुष और स्त्री का साथ केवल एक ही माध्यम से जुड़ा है, वह है देह।···देह उनका धर्म है और वह स्थाई तत्व नहीं है। क्षय का रोगी कभी स्वस्थ व्यक्ति की तरह नहीं रह सकता···।

··मैं विवाह को एक काण्ट्रेक्ट मान सकता हूं। सभी अन्य काण्ट्रेक्ट की तरह वह भी तोड़ा या जोड़ा जा सकता है। ··लेकिन उसके लिए सामाजिक ढोंग क्यों जरूरी है? ···कतई नहीं, एक नकली चेहरा बार-बार बदलकर पहनना अपने असली चेहरे के साथ न्याय तो नहीं है···!

रिश्तों का सम्बन्ध रक्त से होता है···। भाई, बहन, चाचा, मामा, मां, बाप···! अब तक चली आ रही दुनिया में रक्त के परिचक्र को इसी दायरे में देखा जा सकता है। पुरुष और नारी का साथ नितांत आवश्यक है। देह की

आवश्यकताएं अधूरी छोड़ने पर मोम की तरह उसके गलने का भय बना रहता है, लेकिन इस आवश्यकता के लिए एक पूरे आडम्बर और सामाजिक स्वीकृति की क्या आवश्यकता है ?

सत्या मुक्त है, लेकिन इस मुक्ति को एक ढांचे में आश्रय देना उतना ही गलत है। आखिर दो सन्नाटों का रिश्ता, एक पूरी भीड़भाड़ का मोहताज क्यों है ?···सारे लोग भटके हुए एक अनजान नाटक की भूमिका में व्यस्त हैं। इसका फल भोगना पड़ता है उनकी संतानों को। यदि मैं कहूं कि दुनिया-भर की सारी संतानें नाजायज़ हैं तो हर कोई चौंक उठेगा। चोरी में किया गया कोई भी काम आखिर एक चोरी ही तो है ! और किसी भी देश की न्याय-व्यवस्था में चोरी करने की छूट नहीं दी गई।

सब कुछ भ्रम है···अकेले और एकांत की सृष्टि को इतना सुन्दर माना जाता है। ···नये जन्मे बच्चे को हाथ में उछालते हुए या सीने से लगाते हुए उसके समूचे परिवेश को समय की तरह भुला दिया जाता है !

मैं मानता हूं कि दुनिया को बनाये रखने के लिए यह सब आवश्यक है, लेकिन उसे एक गम्भीर रिश्ते का रूप देकर जीने के सारे सही माध्यम क्यों छीन लिए जाते हैं ? विवाह जैसी स्वीकृति के बाद दोस्ती या मित्रता का रिश्ता एकदम बेमानी बना दिया गया है और यह समूची दुनिया के 'सोच' के साथ बहुत बड़ा अन्याय है।

···मैं किसी को उपदेश देने के लिए अपनी यह डायरी नहीं लिख रहा। मैं जानता हूं, जो कुछ चला आ रहा है, उसको बदलने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है। यह भी सत्य है कि हर काल और हर क्षण जीनियस पैदा नहीं होते। अव-तारों को पूरा एक काल-परिवेश चाहिए। बनी हुई मान्यताओं को तोड़कर नये मूल्यों की स्थापना करना ऐसे ही किसी समयातीत और दिव्य व्यक्ति के लिए संभव है। सारी क्रांतियां करोड़ों-अरबों में से कोई एक ही कर पाता है। जिस दिन विवाह जैसी संस्था की संरचना की गई होगी, वह दिन भी ऐसे ही किसी काल-परिवेश की क्रांति का एक टुकड़ा रहा होगा।

तो···अब प्रतीक्षा ही एकमात्र संतोष है। कल सत्या के साथ गुजारा एक वक्त एक प्रतीक्षा थी ! हम दोनों के बीच वह हमेशा बनी रही है और शायद बनी रहेगी।

शनिवार : रात्रि

···सत्या परेशान क्यों रहती है ? उसने अपनी मरज़ी से विवाह किया था, यह जानते हुए भी कि उसके पति को महीनों घर से दूर समन्दर में रहना पड़ेगा··· उसे एक ही सुख और संतोष है। उसका पति उसकी सारी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करता है। उसे किसी चीज़ की भी कमी नहीं है··· देह की आवश्यकताएं वह कभी अधूरी नहीं रखती···परन्तु अकेलापन उसे खाये जाता है।···एक दिन उसने प्रस्ताव रखा था कि मैं 'वूची टैरेस' छोड़कर उसके फ्लैट में चला जाऊं। वह एक अच्छा-सा कमरा मुझे आसानी से दे सकती है। वह अपने पति को मना भी सकती है।

सत्या मां बनना भी चाहती है और नहीं भी··· अकेलेपन की दुनिया शायद तब खत्म हो जाए, परन्तु किसी अबोध और अज्ञान प्राणी की उपस्थिति भला अकेलेपन को तोड़ सकती है ! आदमी मन से अकेला होता है और मन का भोजन हर कोई नहीं दे सकता।···सत्या कई बार कितना सही सोचती है !···

मंगलवार : रात्रि

···बहुत थक गया हूं आज। प्रेस में काम बहुत था···एक पूरा सम्पादकीय लिखना मज़ाक नहीं है। प्रेसवालों से 'ले आउट' ठीक कराना···फिर 'भारतीय विद्या भवन' में रोज़ की तरह लेक्चर ! यह कितना बोर काम है, सारे लोग आंखें लगाए एकटक देखते रहते हैं, जैसे उनके मस्तिष्क एकदम खाली हो गए हैं।

···रात शान्त है। मुझे एक शायर की लिखी दो पंक्तियां याद आ रही है :

> ज़मीं पर रात की पलकों की छांव पड़ती है
> अंधेरा सख्त खामोशी का वार उठाये है।

आज शाम को ही शोभना चली गई थी। बेहद अनमनी और उदास थी वह। कारण वह स्वयं नहीं जानती। कई बार कुछ भी समझ में नहीं आता और बहुत कुछ हो जाता है।···आते ही कह रही थी आज रात घर से बाहर रहने की परमीशन वह ले आई है,···आठ बजे के लगभग अचानक वह जाने के

लिए तैयार हो गई।

—"अब और ठहरकर करेंगे भी क्या ?"

—"......।"

—"आप भी तो बहुत थके हैं आज !"

—"......"

—"अपना मूड खराब हो तो दूसरे का नहीं बिगाड़ना चाहिए।"

बुधवार : सुबह

शोभना उत्साह के साथ दौड़-धूप में लगी है। सारा काम व्यवस्थित ढंग से हो जाए, यह उसकी इच्छा है। उसमें कितनी गति आ गई है ! हर काम करते वक्त लगता है, वह हवा में उड़ती है।

वह कितने लोगों को नहीं पहचानती···! इतनी अधिक सामाजिक लड़की है वह कि उसका अपना कुछ जैसे है ही नहीं···।

बुधवार : मध्य रात्रि

सत्य केवल वर्तमान है··· अतीत मृतक और भविष्य अजन्मा है। यह सब जानते हुए भी हम वर्तमान में नहीं जी पाते। शायद बहुत पहले भी मैं यह कह चुका हूं··· निरंजनसिंह यहां आया ही क्यों था ? एक महल बनाने का उसने सपना देखा था, समय ने तोड़ दिया। भेड़ों के झुण्ड में फंसा वह आदमी कर ही क्या सकता था ! ···मंजरी के साथ उसका सारा व्यवहार एक सामंतवादी 'मिथ' रहा है। इस तरह के कामों की जितनी आलोचना की जाए, अच्छा है।···कुछ तो कर दिया—यही सोच एक मिथ्या भ्रम को जन्म देता है।

···ये सब अनगिनत कटे हुए चेहरे क्यों मेरे चारों ओर चक्कर काट रहे हैं ? मैं आज तक कमला अय्यर को पूरी तरह समझने का दम्भ नहीं भर सकता और प्रोफेसर आचार्य तो अब भी जैसे एक पिंजरे में बंद है···मैं क्यों उसे पसंद नहीं करता ? ···कुछ गड़बड़ तो नहीं है उसमें, फिर···!

···मंजरी एक बार व्यवस्थित हो जाए तो अच्छा है। वैसे ज़िंदगी एक व्यवस्था का नाम नहीं है। वह बेतरतीब और अजानी बनी रहे तो शायद ज़्यादा दिन चल सकती है।···लेकिन जिस भटकन से मंजरी निकली है, उसे स्थिर

होना भी ज़रूरी है । वह निहायत सीधी और सरल लड़की है। उसके सहज चेहरे पर एक अनजाना आकर्षण है। ···वह जब पास आती है तो शायद पूरी तरह वहीं रहना जानती है। न उसके कोई विचार हैं, न प्रतिकार और न विडम्बना। चाबी-भरे खिलौने की तरह वह सब-कुछ मान लेती हैं। रिश्तों के बेमानी होने की बात या शरीर की व्यर्थता का एहसास—वह सब स्वीकार कर लेती है। इस तरह का स्वीकार्य ही मुझे पसन्द है, मैं नहीं कहता, लेकिन कुछ क्षण ऐसे भी होते हैं, जहां विवाद व्यर्थ है, शब्द की सत्ता वहां नहीं होती।

मंजरी अपनी ज़िंदगी को कई बार रेतीले टीलों की तरह याद करती है, लेकिन जाली से छनकर ज़रा-सी धूप आई कि वह उन सब यादों को दफन कर देती है। अनजाने उसने अनुभवों की एक पूरी दुनिया एकत्रित कर ली है। उसकी पाठशाला, एकदम नई होगी··· देखें, उसके प्रतिफल क्या होते हैं।

···सब काम में लगे हुए हैं। पूरी लगन के साथ वे अपना कर्तव्य पूरा कर रहे हैं। *आने वाला कल और दिनों से अलग है। वह एक नये संकल्प का दिन है, एक नये जन्म का।*

यह एक छोटा-सा परिवार ही तो है—सब अलग-अलग, किन्तु एक-दूसरे से बंधे हुए। किसी के प्रति कोई उपकार और एहसान नहीं कि उसी के भार से आदमी की ज़िन्दगी झुकती जाए। सब सबके लिए हैं और किसी के लिए भी नहीं।···वह, वह है, उसकी निजी सत्ता है और यही महत्त्वपूर्ण है··· सब-कुछ इस देह के साथ ही तो जुड़ा है··· इसके बाद की कल्पना ने सबको भ्रम में डाल दिया है और उन्हें अकर्मण्य बना दिया है।

···भ्रम में पड़े हुए लोग एक बीमार शहर के नागरिक हैं। अंधेरे परदों को फाड़कर जिस्म को चुराए हुए पूरब से हर रोज़ सुबह कोई निकलता है··· शायद कोई ऐसी सुबह आए, जिसमें इस समूचे बीमार शहर का इलाज करने की ताकत हो···शायद!

२१

मंजरी : मेरा स्कूल

गुरुवार का दिन है आज। न जाने क्यों मैं इसे सबसे अच्छा दिन मानती हूं, आज से नहीं बरसों पहले से। जब मैं गांव में थी, तब भी मेरी यही धारणा थी। इसके पीछे एक घटना है।

मैं कई लड़कियों को साड़ी पहने हुए देखा करती थी और मेरा मन होता कि एक साड़ी मेरे पास भी होती। पर वह आए कहां से? पिता की स्थिति ऐसी नहीं थी, फिर वे स्वयं नहीं चाहते थे कि मैं साड़ी पहनूं। उनका कहना था कि साड़ी पहनकर लड़कियां अचानक बड़ी हो जाती हैं और काटने लगती हैं। मैं उसी तरह फराक या घाघरा पहनती रही। ये भी मेरे पास एक-एक ही थे।

मैंने एक दिन अकेले में मनौती मांगी—'हे भगवान, यदि मुझे कहीं से एक साड़ी मिल जाए तो मैं तुझे मिठाई चढ़ाऊंगी।'

उस दिन शाम को सत्यनारायण की पूजा कराकर मेरे पिता वापस लौटे तो एक साड़ी लेकर आए। पहली बार किसी ने पूजन में साड़ी चढ़ाई थी। मैंने जामनी रंग की वह साड़ी पिता के पास देखी तो उसे उठाकर भाग गई। मुझे लगा, कहीं पिता यह साड़ी किसी और को न दे दें। उस दिन गुरुवार था और उसी दिन पहली बार साड़ी पहनकर मैंने अपनी एक बड़ी इच्छा पूरी की थी। तब से मेरे मन में गुरुवार के लिए एक श्रद्धा जाग्रत हो गई है।

यह भी एक संयोग है कि आज ही मेरे 'बाल मंदिर' का उद्घाटन होने जा रहा है। इसलिए सुबह से मैं खुश थी। मेरी खुशी हर तरफ से फूटकर बाहर निकल जाना चाहती थी। ऐसे अवसर पर मुझे निरंजन की याद आ रही थी। सोचती थी, वह आता तो कितना अच्छा होता। शेखर ने बताया था कि उसने निरंजन को इसकी सूचना दी थी, लेकिन उसने अपनी मजबूरी व्यक्त करते हुए लिखा था कि बम्बई से लौटने के बाद वह कई झंझटों में फंस गया है। घर से लेकर बाहर के मामले-मुकदमे तक उसे परेशान किए थे।

मैं निरंजन के बारे में सोचने लगी। उसने जो कुछ मेरे साथ किया है, मैं उससे उऋण नहीं हो सकती। परन्तु अब मेरी बुद्धि उतनी संकीर्ण नहीं थी। मैंने उन लोगों के बारे में पढ़ा था जो हर मुसीबत में अकेले रहते हैं। मैंने 'द वूमैन दाउ गेवेस्ट मी' उपन्यास का हिन्दी अनुवाद पढ़ा था। एलिज़ाबेथ के साथ में अपने को जोड़ती गई थी। वैसे वह राज परिवार की थी, मेरी उससे बराबरी नहीं थी, परन्तु न जाने क्यों उसकी करुणा मेरे बहुत नज़दीक थी। उसने एक साधारण नाविक से प्यार किया था और उसी के साथ वह रहना चाहती थी, लेकिन उसके साथ राज्य-परिवार की प्रतिष्ठा थी और उसे मज़बूर होकर एक 'नाईट' से विवाह करना पड़ा था।

विवाह उसने कर लिया और अपनी सुहागरात मनाने वह एक शिकारे पर अपने पति के साथ भी गई, परंतु उसने अपनी देह उसे छूने नहीं दी। वापस लौटकर वह चोरी-छिपे अपने नाविक प्रेमी से अपने ही आलीशान बेडरूम में मिली और गर्भवती हो गई। तब एलिज़ाबेथ ने गर्व के साथ घोषणा की कि वह मां बननेवाली है।

सारी राज-प्रतिष्ठा पर यह गहरा आघात था और यहीं से उसपर अत्याचारों का आरम्भ होता है, परन्तु उन सबको वह सहती रही। इस पूरे घटनाक्रम में वह नितान्त अकेली थी। अकेले उसने सब-कुछ बर्दाश्त किया और अपने प्रेमी के गर्भ को जन्म भी दिया।

उसे पढ़कर उसके प्रति निरंतर मेरी हमदर्दी बढ़ी है। आदमी अकेला है, यह एक सत्य है। वह जबरन अपने को बांधकर अपना अकेलापन तोड़ने की कोशिश करता है, लेकिन क्या ऐसा करते हुए वह अपने को और-और विवश नहीं बनाता? उसकी नियति उसके एकाकी क्षण ही हैं।

ठाकुर निरंजनसिंह की एक दूसरी तसवीर धीरे-धीरे मेरे सामने उभरने लगी है। वह पहली बार जब उस कोठे में मुझसे मिला था, तब उसके पास एक भीषण हिंस्र पशु ही तो था। मुझे देखकर क्या उसने केतकी को सामने नहीं रखा होगा? आखिर मुझमें भी कुछ था, जो उसे मेरी ओर खींच लाया। वह आखिर उन कोठों में जाता ही क्यों था? इसके पीछे क्या पुरुष की सत्ता काम नहीं कर रही थी? वह उद्दण्ड और निरंकुश सत्ताधारी की तरह किसी भी सुन्दर औरत को अपने पंजे में फंसाकर उसे चूसना ही तो चाहता रहा है। इस

अर्थ में निरंजनसिंह कहां अलग है ?

एक बार मैंने उसे एक लम्बा पत्र लिखा था। लिखकर मैंने फाड़ दिया। उसे पोस्ट कर देती तो वह पढ़कर तिलमिला उठता। मैंने बड़े चाव से इसके पहले उसे पत्र लिखा था कि उसके जाने के बाद एक बेचैनी ने मुझे घेर लिया है। मैं उसे तत्काल चाहती हूं। इसका उत्तर उसने मुझे इस तरह दिया था :

"मंजरी, तुम्हारे अकेलेपन को मैं खूब समझता हूं, लेकिन इधर बहुत फंसा हूं। केतकी कई दिनों से बीमार चल रही है। दूकान का नौकर भाग गया है। लड़के की परीक्षा पास है। मेरा यहां से बाहर निकलना इस समय असम्भव है।"

इस पत्र को पढ़कर उस दिन अचानक मैंने दांत पीसे थे। उसी आवेग में मैंने उसे लिखा था :

"निरंजन,

मैं जो लिख रही हूं, उसके लिए मुझे माफ करना। तुम विवाह नाम की संस्था से बंधे हुए कुत्ते हो। तुमने सब-कुछ अपने स्वार्थ के लिए किया। दूसरों की तरह तुम भी मेरी देह के साथ मनमाने ढंग से खेलते रहे। फिर तुमने उस पर कब्ज़ा कर लिया। तुम एक बीवी भी रखना चाहते हो और एक रखैल भी। मेरी स्थिति आखिर रखैल से कहां बेहतर है ? तुमसे अच्छा शेखर है, जो स्त्री को मित्र मानता है। मेरा मन होता है, मैं उससे प्यार करूं। उसे अपनी देह देकर अपने को धन्य मानूं, क्योंकि वह तुम्हारी तरह किसी को रखैल नहीं बनाता। वह जो कुछ है साफ है। यही स्थिति प्रो० आचार्य की है, वह भी कितना अच्छा है···कितना···!"

मैंने यह पत्र आगे नहीं लिखा और फाड़कर फेंक दिया। लेकिन यह पत्र लिखते हुए मुझे लगा, इसके साथ मैं कुछ रिश्तों को बनाती जा रही हूं। धीरे-धीरे ये रिश्ते मजबूत हो जाएंगे ; तब ?

'बूची टैरेस' कितना-कुछ अलग है। यहां सब एकरस होकर रहते हैं। बंधे हुए भी वे एक-दूसरे से मुक्त हैं। एक-दूसरे की मैत्री विश्वास पर आधारित है, जिस दिन वह टूट जाएगा, मैत्री भी नहीं रहेगी, परन्तु तब आगे-पीछे भी तो कुछ नहीं होगा। न झूठी सम्वेदनाएं होंगी और न वे आंसू जिनकी कहीं कीमत नहीं होती।

शेखर का कहना ठीक है कि मन का संतोष ही जिन्दगी की उपलब्धि है।

यह संतोष जैसे मिले उसे पाना चाहिए। वह चाहे देह से मिले या कल्पना के मन से।

यहां आने के इतने थोड़े समय में ही मेरी ज़िन्दगी किस तरह बदल गई है! यहां उस गांव की तरह काटती हुई आंखें नहीं हैं। यहां आदमी डूबा हुआ अपने आप में लिप्त है। वह व्यर्थ दूसरों की खिड़कियों में नहीं झांकता। आखिर शेखर, मिस गोरावाला, कमला अय्यर, शोभना, प्रोफेसर आचार्य—इन सबसे मेरा क्या सम्बन्ध है? कुछ न होते हुए भी हम सब कितने जुड़ गए हैं!

और अब आने वाला कल मेरी ज़िंदगी को बदल देगा। मेरा 'बाल मंदिर' होगा। मुझे ढेर से लड़के-लड़कियां घेरे होंगे। वे मुझ 'मिस' कहेंगे और मैं उन्हें डांट दूंगी। उनसे कहूंगी—"मुझे सिस्टर कहो!" सब-कुछ बदल जाएगा! निरंजनसिंह ने केवल मेरी देह को अपना धर्म और कर्त्तव्य माना था।

मैंने आसमानी रंग की सिल्क की साड़ी निकाली। शेखर ने यह कल लाकर दी थी। कहा था—"मंजरी, यह साड़ी पहनकर तुम उद्घाटन में चलोगी। इसे तुम मेरी पहली भेंट समझो।"

उसने साड़ी देते हुए कहा था—"ज़रा पहनकर तो बताओ।"

मैंने साड़ी पहनकर उसे दिखाई थी, तो वह अपनी फटी आंखों से मुझे देखता रह गया था। साड़ी पहनकर मेरे भीतर एक अनजानी लहर उठी थी, ठीक वैसी ही, जैसी समन्दर के भीतरी पानी में उठती है। उसे कोई देख नहीं पाता। मैंने चाहा था कि मैं दौड़कर शेखर से लिपट जाऊं। अपने अस्तित्व को उसमें समाहित कर दूं, क्योंकि वह जो कुछ कर रहा था, मेरा अस्तित्व बनाए रखने के लिए था। मैं उसे बार-बार देख रही थी। वह पहली बार मुझे इतना अधिक आकर्षक लगा था। मैं चाहती थी, मैं भी शोभना की तरह बेहिचक उसके पलंग पर सीधी लेट जाऊं और उससे कहूं कि तू बेवकूफों की तरह खड़ा हुआ क्या देख रहा है?

तब मेरे सामने एक रिश्ते का नाजुक नाम उतर आया था—मैंने उसे भाई कहा था।...लेकिन कैसा भाई!...माने जाने वाले रिश्ते में मूल भावना मानने की ही तो होती है। फिर मैंने ही तो एक तरफा यह रिश्ता कायम किया है। जो हो, ये सब सुविधा के लिए है। जब कभी एक रेखा बनानी होती है, हम रिश्तों की दीवारें खड़ी कर देते हैं, परन्तु हर रेखा टूटी है; लक्ष्मण रेखा

भी स्थिर नहीं रह पाई और उसके होते हुए भी सीता अपनी रक्षा नहीं कर सकी···। लेकिन नहीं···शोभना क्या सोचेगी ? वह मेरे लिए इतना करती है···तो···!

अकेले कमरे में वह साड़ी पहनते हुए मैं कितना-कुछ नहीं सोच गई। कितने रंग मेरे सामने उभरे और डूब गए।

उसी समय मिस गोरावाला ने दरवाज़े पर दस्तक दी। वह बोली—"क्या कर रही हो बन्द कमरे में ? देखो भला कौन-कौन आया है ?"

बाहर निकलकर मैंने देखा। वहां शोभना थी, सत्या, सुरेखा और मिस गोरावाला की दोनों लड़कियां। खूब सजी थीं सभी। शोभना ने तो लाल रिबन से ऊंची पोनीटेल बांध रखी थी। उसे पहली बार मैंने इस तरह देखा था। सत्या काश्मीरी सिल्क की साड़ी पहने थी। सुरेखा ने हैंडलूम पहन रखा था और मिस गोरावाला की दोनों बेटियां एक-सी शिफॉन की साड़ी पहने थीं। हलके आसमानी रंग की साड़ी में उनका सुनहला बदन खूब झलक रहा था। ऐसा लगता था, जैसे वहां धूप निकल आई हो।

मैंने सबसे हाथ जोड़कर नमस्ते की। सत्या ने बताया कि वह कार लेकर आई है और दिन-भर कार यहीं रहेगी। मैंने उसका आभार माना। सब अन्दर आ गईं। मिस गोरावाला भी वहीं थी। उसकी बड़ी लड़की ने पूछा—"मिस मंजरी, प्रोग्राम क्या है ?"

मैंने कहा—"पूरा प्रोग्राम तो शेखर को मालूम है। वैसे छः बजे शाम को उद्‌घाटन है। शिक्षा मन्त्री ने उद्‌घाटन करना मंजूर कर लिया है। उसके बाद हलका जलपान है, बस···।"

"नो, नो,"—उसने अपनी गरदन को झटका दिया। फिर तेजी से बोली—"किसने कार्यक्रम बनाया है ?"

मैं कुछ देर चुप रही और उसे गौर से देखने लगी। उसने कहा—"बोलो, बोलती क्यों नहीं ?"

मैंने कहा—"शेखर ने !"

वह जोर से हंसी—"सब शेखर ने किया है ! वो कहां है ?"

मेरे बोलने के पहले मिस गोरावाला बोल पड़ी। उसने बताया कि शेखर पंडाल, माइक आदि का इन्तजाम करने गया है। मिस गोरावाला की बड़ी

लड़की खड़ी हो गई और वह कमरे में यहां-वहां घूमने लगी।

बोली—"एक कार्यक्रम और होगा।"

मैंने पूछा—"वह क्या ?"

उसने कहा—"एम्यूज़मेंट का, यानी मनोरंजन का !"

मैंने पूछा—"यह काम कौन करेगा ? अभी तक तो कुछ नहीं हुआ।"

उसने कहा—"सब चुटकी बजाते होता है। हम और हमारा छोटा बहन दो डांस पेश करेगा। वह अंग्रेज़ी डांस होगा।"

मैंने कहा—"यह तो अच्छा है, पर मैं चाहती हूं कि सारा काम विशुद्ध भारतीय ढंग से हो।"

उसने कहा—"वैसा ही सही। हम दोनों मणिपुरी भी जानता है।"

मैं प्रसन्न हुई। बोली—"तब तो ठीक है।" वह ताली पीटकर घूमने लगी। बोली—"देखो, हमको आता है न !"

हम सब खूब हंसीं। मैंने उसके हाथ पकड़ लिए। बोली—"मान गई, तुम जानती हो। यह ठीक रहेगा। और क्या होगा ?"

शोभना बोली—"एक नाच मेरी ओर से और साथ ही एक गीत भी। और मंजरी, एक गीत तुम्हें भी गाना होगा। वही—तेरी गठरी में लागा चोर, मुसाफिर जाग ज़रा।"

"मुझे मंज़ूर है"—मैंने कहा।

सत्या बोली—"कुछ महीने पहले मैंने एक एकपात्रीय नाटिका 'विद्याभवन' में पेश की थी। उसे लोगों ने खूब पसन्द किया था। आप लोग कहें तो मैं फिर यहां दुहरा दूं।"

मिस गोरावाला की छोटी लड़की ने उसकी कमर पकड़ ली। बोली—"ओ यस, वैरी गुड ! देखा मंजरी···! यहां कमी किस बात की है ! तुम्हारे तो चारों ओर कलाकार पतंगों की तरह घूम रहे हैं। और देखो, एक प्रोग्राम सुरेखा को भी देना पड़ेगा।"

सुरेखा ने कहा—"हां, दूंगी ज़रूर। कमेंट्री मेरी तरफ से।"

दरवाज़े की सांकल बजी। मैंने उठकर देखा, कमला अय्यर थी। उसके दोनों हाथ मैंने पकड़ लिए और उसे खींचकर भीतर ले आई। उसे देखकर सब उठ खड़ी हुईं। शोभना ने कहा—"बड़े समय पर आई कमला। तुम तो सितार

खूब बजाती हो। आज हम देखेंगे, क्या कमाल दिखाती हो।"

कमला बिना कुछ कहे तैयार हो गई। सबने बैठकर मनोरंजन का पूरा कार्यक्रम तैयार कर लिया। पूरी लिस्ट सुरेखा को सौंप दी गई। मिस गोरावाला ने कार्यक्रम पेश करने का तरीका सुरेखा को अच्छी तरह समझा दिया। तब तक मिस गोरावाला और शेखर भी आ गए। उसने बताया कि सब प्रबन्ध हो गया है। मिस गोरावाला की बड़ी लड़की ने कहा—"मिस्टर शेखर, तुम कैसा काम बनाता! बिना एम्यूज़मेंट के कुछ फंक्शन होता? खाली-पीली भाषण का बौम मारेगा तो जनता का हार्ट डिप्रेश हो जाएगा।"

शेखर ने कुछ कहने के लिए मुंह खोलना चाहा, पर उसने कहने नहीं दिया। वह बोली—"बड़ा गलती करता, हम सुधारना मांगता। एम्यूज़मेंट का प्रोग्राम जम गया।"

शेखर बोला—"वह कैसे ?"

उसने अपने दोनों हाथ हवा में घुमाए। बोली—"हम सब कलाकार हैं शेखर, बहुत बड़ा कलाकार! हममें से हर कोई अपनी कला पेश करेगा। तुम देखेगा तो दंग रह जाएगा।"

सुरेखा ने कार्यक्रम का कागज शेखर के हाथ में थमा दिया। उसने वह कागज़ ध्यान से देखा। बोला—"चलो, यह भी अच्छा रहा। मैं आप सबको धन्यवाद देता हूं। इस कार्यक्रम से एक समां बंध जाएगा।"

मिस गोरावाला की बड़ी लड़की ने शेखर का हाथ पकड़ लिया। बोली—"मेरा पीठ ठोको। यह मेरा ओरीजिनल आइडिया है।"

शेखर ने पीठ ठोक दी और हम सबने खूब ताली पीटी।

तालियों की गड़गड़ाहट शांत हुई तो शेखर उठकर खड़ा हुआ। बोला—"शोभना, इन्होंने कार्यक्रम तो जमा दिया है। एक मेरी ओर से भी होगा।"

सब उसकी ओर देखने लगीं। मुझे भी अचरज हुआ, शेखर क्या कार्यक्रम पेश करेगा!

उसने कहा—"इस टैरेस के बाज़ू में फिल्मी कलाकार रहते हैं। शोभना, तुम जाकर अनुरूपा और केशवराय से अभी मिल लो। दोनों अच्छा नाच जानते हैं। फिल्म 'प्यार का सार' में इन दोनों ने एक डांस पेश किया है। वह मेरिन ड्राइव के पास फिल्माया गया है, लेकिन है इतना बढ़िया कि सारी फिल्म

केवल इसी डांस से चल रही है। उसमें म्यूज़िक भी बहुत नहीं है। तुम उनसे मेरा नाम कह देना। कहना, शेखर ने भेजा है और कहा है, इस मुहल्ले में समारोह हो और आप लोग भाग न लें, यह नहीं हो सकता।"

शेखर की बात सबने खूब पसन्द की। खेल-खेल में मनोरंजन की बात सोची थी, चुटकी बजाते तय हो गई। मैं खुश थी। सब मेरे लिए ही तो हो रहा था। सब उठकर बाहर चली गई और अपने-अपने काम में लग गई।

मैं सत्या के साथ बोरीबन्दर की ओर चल पड़ी। सत्या नेवी के एक बड़े आफीसर की पत्नी है। वह हमेशा क्लब जाती है और शराब पीती है। दूसरे लोगों के साथ नाचती है। घर का कोई काम उसने कभी देखा नहीं। नौकर लगे हैं। इतनी सुविधा के बावजूद वह अपने पति से चिढ़ती है। यह सब सत्या ही बता रही थी। अपनी कार चलाते हुए उसी ने अपनी कहानी शुरू कर दी थी। बोली—"मंजरी, वो अपने में मस्त रहते हैं, तो मेरी भी अपनी मस्ती है। क्लब-लाइफ में बड़ी ज़िन्दगी है।"

मैंने कहा—"होगी सत्या, पर वह ठीक नहीं है। यह सब हमारी भारतीय सभ्यता नहीं है। सुख पाना कठिन नहीं है, लेकिन सच्चा सुख वही है जो मन को न काटे, उसे कचोटे नहीं, जिसके करने में मन भय और अशांति का अनुभव न करे। तुम विवाहित हो। दूसरे पुरुष तुम्हारी कमर में हाथ डालते हैं, तब क्या पानी की तरह तुम्हारा मन नहीं हिल जाता? तुम शराब पीती हो। शराब पीकर और क्या करती होगी, तुम खूब जानती हो। यह अच्छा नहीं है। तुम्हारे पति ने कितनी सुविधाएं दे रखी हैं। सवेरे से उनकी कार लिए हो। कमाई भी तो उन्हीं की है, जिस पर तुम मौज उड़ाती हो।"

मैं बहुत-कुछ कह रही थी। यह कहते-कहते मैं वर्षों पीछे लौट गई। मेरी ज़िन्दगी में ऐसे कितने प्रसंग नहीं आए! आज उपदेश दे रही हूं। उपदेश देना कितना सरल है! कहते हैं, गुरु का कर्म सबसे कठिन होता है। पर सच यह है कि गुरु बनना सबसे सहज कर्म है। दुष्कर है शिष्यवृत्ति, और उसका ठीक रूप से पालन करना! मैंने आगे कुछ नहीं कहा। सत्या की ओर देखा। वह मुसकरा रही थी। बोली—"कुछ दिनों में तुम भी लीडर बन जाओगी। शेखर की छाया जो तुम्हारे ऊपर है।"

मैंने कहा—"वह तो तुम पर भी है।"

उसने कहा—"मेरी बात निराली है। वह मेरा मित्र है। वह रसिक आदमी है और आदमी भी भला है। मन बहलाने के लिए उसका साथ बुरा नहीं है, इसीलिए उससे मैंने मित्रता की है। पर मैं जानती हूं, उसकी मित्रता सीमित है। सब बातें उसमें हैं नहीं, इसलिए मेरे और भी मित्र हैं। और मंजरी, यह ज़िन्दगी जितने चैन से कटे अच्छा है···!"

मैंने पूछना चाहा कि क्या इस तरह की ज़िन्दगी में तुम्हें सचमुच चैन मिलता है, पर मैं पूछ न सकी। मेरे मन के चोर ने मुझे रोक दिया। यह प्रश्न पूछने का मुझे अधिकार नहीं है। सत्या पर मेरी बातें कमल पर पानी की बूंद ही साबित हुई थीं।

सत्या अपने किस्से बराबर सुनाती रही। वह अपने परिवार की सारी बातें भी हंसते हुए बता रही थी। पति-पत्नी के कुछ निजी प्रसंगों की भी उसने चर्चा की। यह मुझे अच्छा नहीं लगा। इतने आत्मीय प्रसंगों को भला कोई उजागर करता है! वह ज़िंदगी को खुलकर जीना चाहती है और इसलिए किसी तरह के अवरोध के विरुद्ध है। मेरे लिए ये बातें नई थीं, क्योंकि मेरा माहौल दूसरा था। मैं सोचने लगी, मैं भले कुछ सोचूं, यह सब गलत नहीं है। फिर भी सत्या जिस तरह से सारी बातें कह रही थी वे मुझे बहुत अच्छी नहीं लगीं। इन बातों के कारण ही उस क्षण सत्या मुझे खटकने लगी थी। उसके शृंगार में मुझे अनेक काले धब्बे दिखाई दिए। मैंने अनुभव किया, जैसे वह अपनी इस चमक-दमक के सहारे पुरुषों को लूटती है। सभ्यता के आवरण में जो कुछ यह करती है, वही-कुछ सबसे ज़्यादा असभ्यता और बर्बरता है और आश्चर्य यह है कि तब भी समाज में उसका स्थान है। उसका पति तब भी उसे रखे हुए है। उसके पति के प्रति मेरे मन में अपार हमदर्दी जागी। मुझे लगा, वह बहुत अच्छा आदमी होगा। उसकी अनदेखी सरलता और सहजता मेरे मन को भेद गई।

अब तक बोरीबंदर आ गया था। कार पार्क कर हम दोनों सामान खरीदने एक दूकान में घुस गए।

२२

शेखर : क्षमता का प्रश्न ?

सब-कुछ व्यवस्थित ढंग से पूरा हो गया। खासी चहल-पहल थी। यहां का वातावरण ही बदल गया था। जिन लोगों की नज़रें पहले 'बूची टैरेस' पर जाती थीं, अब 'मंजरी बाल मंदिर' में उलझ जातीं। वे रुककर आश्चर्य से इस साइनबोर्ड को देखते हैं। सोचते होंगे, अचानक यहां क्या हो गया।

परिवर्तन इसी तरह अचानक होते हैं। कहीं कोई एक सीमा-रेखा होती है। वह वास्तव में परिवर्तन का केन्द्र-बिन्दु है। चुम्बक लोहे को जिस तरह अपनी ओर खींचता है, उस केन्द्र-बिन्दु में भी उतना ही आकर्षण होता है और उसके पास पहुंचते ही अनायास सब-कुछ बदल जाता है। एक बड़े भूकम्प के साथ ही जैसे ज़मीन फट पड़ती है और ऊपरी दुनिया उसमें समा जाती है। नदी बहते-बहते अपना रास्ता बदल जाती है। बड़े-बड़े पर्वतों की जगह लहराती हुई नीली झील दिखाई देने लगती है। शहर के शहर खाक हो जाते हैं या अलादीन के जादुई चिराग की तरह शहर के शहर एक पल में बनकर खड़े हो जाते हैं। सब-कुछ ऐसे ही यहां हो गया। हमें पता ही नहीं चला कि परिवर्तन का वह बिन्दु कब आ गया।

उस समय मिस गोरावाला कितनी परेशान थी। हम सब शिक्षा मन्त्री महोदय की प्रतीक्षा में थे। रंग-बिरंगी झंडियों से यह पूरा भाग सजा था। अब भी लहराते हुए रंगों की तरह वे देखी जा सकती हैं। सड़क के बीच में ऊंचा मंच और मंच के साथ ही शहनाई। मंच के आसपास आम और फूलों के तोरण। चम्पा के फूलों की झालर और उनसे निकलती हुई सुगंध।

जुहू तक आने वाले हर पैर वहीं रुक रहे थे। एक खासी भीड़ जमा थी। उसके कोलाहल में तैरता हुआ अपना नाम मैं सुन सकता था। मैं अचानक चर्चा का विषय बन गया था।

"मंत्रीजी तो अभी तक नहीं आए, एक घंटा बीत गया!"—मिस गोरा-

वालो के स्वर घबराहट में डूबे थे।

"यह कोई नई बात नहीं है,"—मैंने कहा था—"इस देश में यही होता आया है।"

मिस गोरावाला की दोनों लड़कियां गरारा पहने हुए ऐसे चहलकदमी कर रही थीं, जैसे वहां किसी का विवाह होने जा रहा है।

शोभना ने क्रोध में आकर मुझसे पूछा था—"शेखर, कहां हैं तुम्हारे आदर्श ? दूसरे लोगों की तरह क्या तुम्हें भी उन अपढ़ और दकियानूस मंत्रियों के पीछे भागना अच्छा लगता है ? तुम्हारे निजी चरित्र का यह विरोधाभास कैसा ?"

शोभना की बात सही थी। न जाने क्यों हम सब दो चेहरों में जीते हैं। एक बनावटी चेहरा लगा लेना हमारी नियति है, लेकिन यह चेहरा हम ही तो लगाते हैं। दूसरों को दोष देना आसान है, अपनी गलतियों को पकड़ पाना उससे भी कठिन है।…लेकिन उस समय मैं क्या करता ? एक गलती कर चुका था। मैं जब शिक्षा मन्त्री के पास गया था, तो उन्होंने मेरे इस कार्य की सराहना की थी और बिना कोई टीका-टिप्पणी किए वे तैयार हो गए थे। अब…?"

मैं सचमुच परेशान इधर-उधर भाग रहा था। मंजरी मेरे कमरे में बैठी थी। मैं वहां अचानक पहुंचा तो मैंने देखा दोनों हथेलियां अपने चेहरे पर रखे वह सुबक रही है।

"क्या हुआ, मंजरी ?"—मैंने उसकी पीठ पर अपना हाथ रख दिया था—"निरंजन की याद आ रही है ?"

"नहीं…"—उसने ज़ोर देकर कहा था और उठकर खड़ी हो गई थी—"मुझे इस समय किसी को याद नहीं आ रही, शेखर। मैं केवल तुम्हारी याद कर रही हूं। सोचती हूं, जितना कुछ तुमने दिया है, मैं उसके योग्य बन सकूंगी !"

मंजरी ने रूमाल से अपना चेहरा पोंछ लिया था। आंखें तब भी गीली थीं, लगता था, वे ईथर में डूबी हुई हैं। उसके चेहरे पर कोहरे की एक पर्त जमी हुई थी। उस नमी में डूबकर वह चेहरा अचानक बदल गया था। दूर आसमान के नीचे बनती हुई एक क्षितिज रेखा की तरह उसका समूचा व्यक्तित्व दिखाई दे रहा था। उसने रॉ सिल्क की एक हल्की नीली साड़ी पहन रखी थी। कानों में गोल कुंडल और नाक में वैसी ही गोल बाली। मंजरी का सौन्दर्य खिल उठा था।

इतना आकर्षण उसमें मैंने पहले कभी नहीं देखा।

मैंने हठात् उसे अपनी ओर खींच लिया और सीने से लगा लिया। वह और अधिक सिमटकर अपना चेहरा मेरे कन्धे पर रखे खड़ी रही।

"यह समय व्यर्थ की बातें सोचने का नहीं है, मंजरी!"—मैंने कहा—"तुम सारा भार संभालने में समर्थ हो। व्यक्ति की पहचान तभी होती है, जब उस पर कोई उत्तरदायित्व सौंपा जाता है। ये अवसर हमारी अग्नि परीक्षा के क्षण हैं···।"

मंजरी कुछ नहीं बोली थी। वह उन क्षणों में अभिभूत होकर अपने को शायद खो चुकी थी। मुझे लगा था जैसे अपनी ज़िंदगी का यह क्षण वह मजबूती से पकड़कर रोक लेना चाहती थी, ताकि वह छूटकर फिर बाहर न जा सके। कई बार आदमी अबोले ही बहुत कुछ कह जाता है। वसे भी शब्दों का अर्थ शाश्वत नहीं है। ऐसे ही क्षण तो शब्द अपना अर्थ खो देते हैं। क्या यह एक सचाई नहीं है कि हमने ही उन्हें अर्थ देकर सार्थक बनाया है, अन्यथा शब्द अपने-आप में निरर्थक हैं।

उस कमरे में हम दोनों एक दूसरे की गरमी को महसूस कर रहे थे। मैंने मंजरी के गालों को अपनी दोनों हथेलियों से ऊपर उठाया। उस क्षण मुझे लगा, मेरी हथेलियों में एक ऐसी चुप्पी कैद है जो दुनिया-भर की सारी भाषाओं के शब्दों के अर्थ अपने में समेटे हुए है। वह चेहरा अचानक गम्भीर बन गया था। व्यतीत के कोई चिन्ह उसपर शेष नहीं थे। वह ज्ञान की गरिमा से ओतप्रोत था। थोड़ी देर उस चेहरे को उसी तरह अपनी हथेलियों के बीच टिकाए हुए मैं देखता रहा। वह अपनी झुकी हुई नज़रों से वैसे ही वहां टिका था।

वह एक मौन समर्पण का क्षण था और मैं अपनी कमज़ोरी को नहीं रोक सका। मेरे हाथ अचानक क्रियाशील हो उठे थे···

—"मंजरी, मेरी मंजरी···!"

—"हां, शेखर, तुम्हारी मंजरी, अब केवल तुम्हारी···!"

बाहर कितना कोलाहल था, इसका कतई कोई भान उस कमरे में नहीं हो रहा था। हम दोनों उस पूरी ज़िन्दगी से अचानक कट गए थे। हमें होश तब आया, जब बाहर से शोभना ने आवाज़ लगाई। मैंने देखा, मंजरी का सारा चेहरा अनगिनत चिह्नों से भर उठा था। उसने पूछा था—"शेखर, क्या मैं

तुम्हारे इन्हीं 'पदचिह्नों' के साथ मंच पर खड़ी नहीं हो सकती ?"

एक ठहाका उस कमरे में गूंज उठा था। वह शोभना की हंसी थी। कह रही थी—"शेखर, कब तक तुम प्रतीक्षा करोगे। उसके अंत का कोई क्षण है ?"

—"चलो, शोभना, उसका अंत हो गया, हम अपनी कार्यवाही शुरू करेंगे। अब अधिक देर प्रतीक्षा करना ठीक नहीं है।"

मेरे चेहरे को देखकर शोभना के चेहरे पर शरारत उतर आई थी। उसने कहा था—"अपना चेहरा देखा है ?"

—"क्या हुआ ?"

वह और ज़ोर से हंसी।

—"ज़रा आईना तो देख लो, तुम्हारे गालों पर लिपस्टिक लगी है और कपाल पर बिंदी का निशान उभर आया है।···अरे शेखर, तुम कितने अच्छे लगते हो ऐसे···! चलो तो, ऐसे ही बा र चलो।"

शोभना मेरे पास आ गई और अपनी शरारती आंखों से देखने लगी। मैं सीधे वॉश बेसिन तक पहुंचा और पानी से अपना चेहरा धोने लगा। मैंने सुना, शोभना वहीं खड़े होकर कह रही थी—"शेखर, ऐसे निशान धोने से नहीं छूटते। वे तो चेहरे के भीतर बहुत गहरे समा जाते हैं।"

मुंह पोंछकर मैं शोभना के पास आया तो उसका चेहरा अचानक उतर गया था।

मैंने कहा—"चलो, अब जनता का धीरज छूट रहा होगा।"

बिना कुछ कहे वह मेरे साथ चलती रही, लेकिन मैंने अनुभव किया कि उसके पैरों की गति शिथिल हो गई है।

मंत्री महोदय की गैरहाज़िरी में ही उद्घाटन-कार्यक्रम शुरू हो गया था। एक मछुआरिन लड़की ने फीता काटकर स्कूल का उद्घाटन किया था। नारियल तोड़ा था शोभना ने। प्रोफेसर आचार्य यहां-वहां घूमकर समूची व्यवस्था में लगे थे। मिस गोरावाला की दोनों लड़कियों ने एक स्वर में दो शंख बजाए थे। मिस कमला अय्यर फूलमाला लिए मंच के पीछे खड़ी थीं। मिस गोरावाला ने मुसकराते हुए एक माला मंजरी को पहनाई थी। उसने जनता के सामने मंजरी का परिचय दिया था और यह सुनते ही कि इस विद्यालय की 'मिस' वही होगी,

तालियों की गड़गड़ाहट से वह हिस्सा गूंज उठा था।

पूरे समारोह में कोई भाषण नहीं। अंत में मैंने कहा—"दोस्तो, एक व्यक्ति, एक क्षण और एक स्थिति सारे परिवर्तन की भूमिका के माध्यम होते हैं। यहां ऐसा ही कुछ हुआ है··· हमें परिणाम की प्रतीक्षा नहीं है, क्योंकि सच पूछा जाए तो किसी चीज़ का कोई परिणाम होता ही नहीं। ···आप सब अपना कीमती समय निकालकर आए, धन्यवाद !"

इतने छोटे भाषण की किसी को आशा नहीं थी। वहां बैठे सारे लोग लम्बे भाषणों के अभ्यस्त थे। सब-कुछ इतनी जल्दी समाप्त हो रहा था तो उन्हें लग रहा था कि जैसे कुछ हुआ ही नहीं। मैं उपस्थित जनता के चेहरे को देख रहा था, वहां न कोई एक चेहरा थम पा रहा था और न कोई एक बिन्दु। सभी एक दूसरे में मिलते हुए और हिलते हुए-से दिखाई दे रहे थे।

मंच अधिक देर करवटों से दूर रहे तो जनता उठकर खड़ी हो जाती है। मंजरी ने शायद उठती हुई बेचैनी को पकड़ लिया था। उसने खड़े होकर जनता के हाथ जोड़े थे। फिर अचानक एक फूलमाला लेकर उसने मेरे गले में डाल दी थी। तालियों की गड़गड़ाहट से वह हिस्सा फिर गूंज उठा था। मैं जानता हूं, उपस्थित जनता तालियां बजाने की अभ्यस्त होती है। वास्तव में वह सब निरर्थक होता है। वे लोग चाबी-भरे खिलौनों की तरह उन अनेक क्षणों में यूं ही अचानक बज उठते हैं। तालियां पीटने में जनता एक ठेठ पेशेवर व्यक्ति का काम करती है।

"भाइयो और बहनो !"—अब माइक मंजरी के हाथ में था—"मुझे केवल इतना कहना है कि आज के इस क्षण के लिए यदि कोई उत्तरदायी है, तो वह केवल शेखर है।"

तालियां और तालियां···! फिर तालियां···! मैं समझ नहीं पा रहा था, क्या कहूं। मेरा समूचा अन्तर रोमांचित हो उठा था। मैं मंजरी की पहनाई माला को देख रहा था। वह ताज़े फूलों की माला नहीं थी, चंदन की छाल से बनी हुई वह रंग-बिरंगी माला खादी भंडार से लाई गई थी। उसकी भीनी-भीनी सुगंध मेरे भीतर पहुंच रही थी। मैं उसमें डूबा था और देख रहा था कि मिस गोरावाला यहां-वहां चहलकदमी कर रही है। इस तरह घूमते हुए वह माइक पर आ गई थी। उसने क्या कहा था, मुझे पता नहीं, मैंने केवल तालियां

की गड़गड़ाहट सुनी थी।

शोभना ने मुझे हलका-सा धक्का देकर कहा था—"जनता कुछ पूछ रही है।"

मैंने सामने देखा, एक युवा व्यक्ति खड़ा होकर कुछ कह गया था। मैं उसे सुन नहीं पाया और न सुनना चाहता था। मेरे हाथ अचानक उस सुगंध-भरी माला के पास पहुंच गए थे। उसे गले से उतारकर मैंने फिर मंजरी को पहना दिया था और ऐसा करते हुए उसके स्पर्श से मेरी समूची देह सिहर उठी थी। मैंने जनता की ओर देखकर कहा था—"आपके सारे प्रश्नों के उत्तर केवल मंजरी दे सकती है।"

मंजरी शर्म से झुकी जा रही थी, वह क्या उत्तर देती। यह देखकर जनता के बीच कोलाहल और बढ़ गया था। मेरे लिए वह शायद एक रीता हुआ क्षण था। मैंने खड़े होकर कार्यक्रम समाप्त होने की घोषणा कर दी। लेकिन यह मेरी गलती थी, मैं भूल गया था कि मनोरंजन के कार्यक्रम भी होने हैं।

दूसरी ओर चाय प्यालों की आवाज़ें अलग आ रही थीं। वहां कोलाहल होता रहा, मुझे उसका पता नहीं रहा। मैं अब चुपचाप 'वूची टैरेस' के पीछे समन्दर के किनारे पहुंच गया था। नारियल के झाड़ों के नीचे बैठकर मैं सामने की लहरों को देख रहा था। हर लहर एक गति है। ये सारी लहरें अनत शक्तिपुंज को समेटे किनारे तक आती हैं और एक सौन्दर्य रेखा बनाकर वापस लौट जाती हैं। एक रेखा बनाना और फिर उसे ही मिटाते जाना, यही जीवन की गति है। इसी चक्र में उसका काल-क्षण निहित है। जिस दिन बनाने और मिटने वाली वह सामर्थ्य खत्म हो जाती है, वही अन्तिम दिन होता है।

मैं एकान्त में बैठा एकदम रीता था। सोचने के लिए जैसे कुछ भी नहीं था।···आखिर क्यों?···आदमी के पास सोचने के लिए कुछ न रहे, ऐसा कभी हुआ है? धनहीन आदमी दिवालिया हो सकता है, लेकिन विचार-शून्यता के क्षण में उसे केवल पागलखाने में जगह मिल सकती है।

रात का सन्नाटा चारों ओर फैला है। केवल लहरों के सिर पटकने की आवाज़ें आ रही हैं। मेरा कमरा एकदम शांत है। नींद का नाम नहीं। न जाने किसने छीन ली है वह। करवटें बदलते हुए जब मैंने और बेचैनी महसूस की तो

मैं उठकर बैठ गया। खिड़की से बाहर नज़र गई। ज़मीन के ऊपर रात जैसे बाहों पर लेटी थी। एक बीमार शहर अचेत सो रहा था और मुझे लग रहा था, मेरी ज़िंदगी एक लतीफा बनती जा रही है।

कार्यक्रम पूरा होने के पहले ही सत्या चली गई थी। एक दिन पहले जब मिली थी, कह रही थी, वह अपने पति के साथ कुछ दिनों के लिए विदेश जाएगी। पेरिस देखना उसका संकल्प था। उसने कहा था—"पेरिस जैसा शहर अपने पति के साथ देखा जाए, यह कितना निम्नतम काम है। ऐसे शहर को तो अपने दोस्तों के साथ देखना चाहिए।"

उसने कहा भी था कि मैं पेरिस चलूं, लेकिन एक तो लगातार व्यस्तता और फिर वह चाहती है इसलिए मैं जाऊं, यह मुझे भी तो स्वीकार नहीं है। वैसे उसके इरादे मुझे पसन्द हैं। घूमना-फिरना या सैर-सपाटा यह सब अधचीन्हें रिश्तों के लिए ही वरदान है। न जाने क्यों चीन्हा हुआ आदमी बकवास लगने लगता है। उसमें एक बासीपन की बू आ जाती है। बंधे हुए मूल्यों और प्रतिमानों को दोहराते जाना कितना दर्दनाक है! सत्या यह समझती है, मैं जानता हूं, लेकिन आदमी की मजबूरियां क्या-कुछ नहीं करातीं।…सत्या ज़रूर पेरिस चली गई होगी और वहां पहुंचकर बहुत अकेलेपन का भी अनुभव कर रही होगी। मैंने इतने दिनों में उसे अच्छी तरह पहचान लिया है। वह पहले एक भीड़ से भाग जाती है। फिर अकेलेपन के एहसास से घबराने लगती है और लौट आती है। लौटकर वह उसी शोर का एक अंग बन जाती है। ऐसा कई बार हुआ है। अपने-आप से परेशान होकर वह कितनी बार माथेरान नहीं गई, लेकिन वहां रह नहीं सकी। कहती थी—"दिन-रात केवल वृक्षों की छाया बनकर घूमना मुझे पसन्द नहीं आया, इसलिए लौट आई हूं।"

सत्या परेशान होकर भी जीने के माध्यम खोज लेती है और मेरा सोचना गलत नहीं है कि वह अपने पति से भी अधिक मुझे चाहती है। मेरे पास आते ही, जैसे उसका सारा रंग-रूप बदल जाता है। वह इस सारे कमरे में हलचल पैदा कर देती है। दरवाज़ा बन्द करते ही सबसे पहले वह रेडियो चलाती है, फिर अपनी साड़ी उतारकर फेंक देती है। कहती है—"इन जंगली आवाज़ों के साथ अपनी आवाज़ मिला देने से आदमी अपने-आप से कट जाता है।"

यह सत्य है कि अपने-आप से कटकर ही अपनेपन को सुरक्षित रखा जा

सकता है। यही कुछ साड़ी उतारकर फेंकने में है। बनावटी घेरों में आवृत हमने कितना-कुछ नहीं खो दिया जो प्रकृति ने हमें सहज रूप में दिया है। हमें मिलता बहुत है, उसे ले सकने की ही सामर्थ्य हममें नहीं होती।···मैं सत्या की गैरहाज़िरी को बराबर महसूस कर रहा हूं। उसने पहले ही पेरिस जाने का इरादा बना लिया था, लेकिन शायद इसलिए नहीं बताया कि यह कार्यक्रम सही ढंग से हो जाए। इसके पहले कितना-कुछ उसने नहीं किया। सारी की सारी खरीद-फरोख्त···यह ···वह···सभी तो!

वह अभी पेरिस पहुंची भी नहीं होगी। या तो हवा में उड़ रही होगी या किसी होटल में जागते हुए यह रात इसी तरह काट रही होगी।···

मेरे कमरे को रात चारों ओर से घेरे हुए है और मैं अब हलके प्रकाश में चमकते हुए इस कमरे में एक द्वीप की तरह बंद हूं। वह द्वीप सबसे कटा हुआ, अकेला और अलग है।···लेकिन आदमी भला कब अकेला होता है। जब और कोई नहीं होता, तब भी वह तो होता ही है। उसके साथ जुड़ी हुई यादें ··यादें और यादें। ये किसी साथी से कम हैं! कई बार उनका एहसास इतना तीव्र होता है कि आदमी सब-कुछ इस तरह करने लगता है, जैसे वह सचमुच कर रहा है।··· शोभना की याद इस समय मुझे बहुत आ रही है। सारे काम में लगी वह थक गई थी और अब अचेत सो रही होगी। इतने दिनों से इस लड़की को जानता हूं, इसका अपना जैसे कुछ है ही नहीं। नन्हें बच्चों जैसी अबोधता उसके सारे व्यवहार में देखने को मिलती है। आते ही वह अपने आने का भान पूरी तरह करा देती है और जब जाती है तो उतनी ही बड़ी रिक्तता छोड़ जाती है।

उस दिन उन गुफा-चित्रों को देखते हुए उसने प्रश्न किया था—"इन पत्थरों को इतनी सुखी ज़िंदगी किसने दी है?" इसके बाद वह मेरे उत्तर के लिए नहीं ठहरी थी। अपनी दोनों हथेलियों को आपस में रगड़ते हुए ही उसने कहा था— "कोई किसी को ज़िंदगी नहीं देता, वह अपने-आप आती है, हां···उसे सुख दो हाथ दे जाते हैं, उन्हीं दो हाथों ने इन पत्थरों को सुख दिया है और···।" हम दोनों के हाथ अनायास बंधकर एक हो गए थे। उसी तरह बंधे हुए हमने सारी गुफाएं देखी थीं। कई बार तो कुछ प्रणय-युग्मों की तरह हमने भी खड़े होकर अभिनय किया था, लेकिन तब लगा था कि पत्थर की तरह भी हम खड़े नहीं हो सकते। वह निश्चिन्त अचेत-भावना हममें नहीं आ सकी। हर बार लगा, जैसे

कोई पैर कहीं से आ रहा है और··· यह भय क्यों ? आता है तो आता रहे···दो क्षण भी अपने नहीं। अनजाने लोगों का भय क्या मायने रखता है ? मायने तो कुछ भी नहीं रखता। जाने-पहचाने लोग भय देने में क्या कमी करते हैं ?··· लेकिन सवाल उनके देने का नहीं है, वे तो ऐसी हर चीज़ देते रहेंगे जिससे हमें चोट पहुंचे··· हम उसे लेते ही क्यों हैं ? क्यों उनके प्रति सहसा हम सजग हो उठते हैं ?

कोई आदमी कहीं शांत नहीं है। पत्थर की मूर्तियों की तरह या रात के इस प्रहर की तरह हम एक क्षण भी नहीं बिता सके··· अचानक बेचैनी-सी लगने लगती है !

मैं उठकर निरुद्देश्य सारे कमरे में घूमता हूं। तब भी मुझे लगता है, मैं छत पर लगे पंखे की तरह नहीं घूम पा रहा।···वह कितना फिज़ूल आदमी है··· निरंजनसिंह ! बड़ी-बड़ी मूछों से ही ठाकुर होने का एहसास कराते रहना और फिर लौट-लौटकर वहीं वापस जाना, कुछ अर्थ रखता है यह सब ? वह निहायत दकियानूस और बेढंगा आदमी है। दो नावों पर एक साथ सवार होना चाहता है। एक तरफ केतकी से बच्चे पैदा करता है, दूसरी तरफ मंजरी जैसी भोली-भाली लड़की के साथ मनमाने व्यवहार कर अपने को आदर्श पुरुष कहलाना चाहता है। यह वास्तव में सामन्तवादी प्रवृत्ति है ! विवाह कर किसी स्त्री को पत्नी बनाना और फिर उसे एक गोदाम में बंद कर देना एक तरह की होर्डिंग है। इसके बाद व्यापार करने वाली लड़कियों के चंगुल में फंसना और सिद्धांत बताना एक बड़ा झूठ है। प्रेम कभी व्यापार नहीं हो सकता और न कोई लड़की खरीदी जा सकती। प्यार की जगह सबको पत्नी बना लेना और फिर उन्हें लगातार अपने होने का एहसास कराते रहना एक जंगलीपन है। यहां आने के पहले मंजरी उसकी 'रखैल' ही तो थी। ऊपर से तुर्रा कि उसका उद्धार हुआ है। कौन किसका उद्धार करता है ? अपने निजी स्वार्थ को ऐसे ही बनावटी शब्दों की पोटली में बंद कर दिया जाता है। शब्दों के साथ और देह के साथ मनमाना खिलवाड़ करना हमारी आदत हो गई है, यह जानते हुए भी कि दोनों कितने निरर्थक हैं, कितने बेमानी !

ठाकुर निरंजनसिंह की याद में मुझे उन ऐतिहासिक पात्रों की याद आ जाती है, जिन्हें गत्ते की बनी तलवार लिए हुए स्टेज पर बनावटी ढंग से लड़ते दिखाया

जाता है। दूसरों के दिए हुए शब्दों और वाक्यों को तोते की तरह दोहराना उनकी नियति है और रुपये-पैसों की गरमी में औरत जैसी नाज़ुक चीज़ को मोम की तरह पिघलाते जाना उनका सबसे बड़ा संतोष है।

मंजरी इतना समझ पाती तो उन सारे चक्करों में ही क्यों पड़ती। बेचारी···! ···घूमते हुए मेरे पैर सहसा दरवाज़े पर रुक जाते हैं। मैं दरवाज़े की चटखनी खोलता हूं। सामने ही तो मंजरी का कमरा है। उसने अपनी ज़िन्दगी भर का सारा दुख अभी-अभी बीते हुए क्षण में अचानक ध्वस्तकर उससे दुगना सुख उलीचा है। उसकी आवृत्ति में उसकी स्थिति क्या होगी ? मैं सहसा उसके कमरे तक चला जाता हूं। हल्के से दो बार दरवाज़े पर दस्तक देता हूं, लेकिन इतनी हल्की दस्तक भी उस स्तब्ध रात्रि में हथौड़े की सी आवाज़ देती है। कोई हलचल नहीं···कहीं कोई हरकत या छेड़छाड़ कुछ भी नहीं। आदमी को जब उसका चाहा सब-कुछ मिल जाता है तो वह निस्पंद हो जाता है। जीवित रहते हुए भी वह मर जाता है। तृष्णाओं का अंत ज़िंदगी को तेज़ धार से काटकर दो टुकड़ों में विभक्त कर देता है। मैं एकाध मिनट वहां खड़े रहकर वापस आ जाता हूं और मिस गोरावाला के कमरे की ओर देखता हूं। उसकी दोनों लड़कियां यहीं हैं। वह कितनी भली औरत है ! ···किसी आदमी का एकाधिकार उसने नहीं होने दिया और उनसे वह सब पा लिया जो एक औरत पाना चाहती है।

कुछ दिन पहले वह मेरे साथ काफी पी रही थी। कहती थी—"शेखर साहब, अपने खून से एक जानवर पैदा करना कितना सुखदाई होता है !" मैंने उसके झुर्रियों वाले चेहरे को देखा था। ब्यूटी सैलून से अपने चेहरे और बालों को किसी नाटक के पात्र की तरह बनावटी ढंग से व्यवस्थित कर लेने में ही कितना परिवर्तन दिखाई देने लगता है ! तभी व्यक्तित्व बदल जाता है, और ज़िन्दगी अपने-आप में एक नाटक नहीं तो क्या है ?

मिस गोरावाला उस समय शर्म से झुकी जा रही थी। कहती थी—"शेखर, क्या हम एक लड़का और पैदा नहीं कर सकता ?"

मैं बहुत ज़ोर से हंसा था और बहुत देर तक हंसता रहा था। उसका चेहरा रुआंधा हो गया था—"तुम ठीक हंस रहे हो। हम बूढ़ा हो गया है न, हम कैसे लड़का पैदा कर सकता है !"

मेरी हंसी अचानक रुक गई थी और मैं गम्भीर हो गया था। और जब उसी

गम्भीर भाव से मैंने कहा था—"गोरावाला, तुम तो अभी मिस हो, किसने कह दिया कि तुम बूढ़ा हो गया है। तुम्हारा यह चेहरा···!" और मैंने नायिका भेद के सारे उपमान और रूपकों से मिस गोरावाला को मलहम लगाया था तो वह भाव-विभोर हो उठी थी। उसने सबके सामने उठकर मुझे चूम लिया था। उसने मुझे उठाकर खड़ा कर दिया था और कहा था—"हम सचमुच तुम्हारे जैसा ही लड़का पैदा करेगा···। चलो···!"

वहां बैठे और लोग हंस पड़े थे। उनकी हंसी में मुझे तिरस्कार की आवाज़ सुनाई पड़ी थी। वे मिस गोरावाला की हंसी उड़ा रहे थे, जबकि वह सचमुच हंसी उड़ाने लायक नहीं है। उसने किसी की परवाह नहीं की और आदमियों के जंगल में सिंहिनी की तरह घूमती रही है।

मैं अपने बिस्तर पर आकर सीधा लेट जाता हूं। तेज़ गति से भागते हुए तूफान में कमला अय्यर आकर फंस जाती है, लेकिन वह अधिक देर नहीं रहती। वह स्वयं केवल एक टाइपराइटर बनकर रह गई है और कई बार सही क्षणों को भी नहीं पहचानती। उसने जब कभी अकेले में प्रेम की बातें की हैं तो वह मुझे निहायत अनाड़ी की तरह लगी है। इतना ही नहीं, अपनी देह को खाली छोड़कर भी उसके मन से मशीनों का कड़ापन नहीं जा सका, इसलिए उसे 'किस' करते हुए भी कुछ भी न करने का एहसास बराबर होता रहा है। ···एक ही बात उसमें अच्छी है और इसीलिए वह 'बूची टैरेस' में रह गई है, वह यह कि कभी उसने अपने को व्यक्त नहीं किया। अव्यक्त रहते हुए वह अपने ढंग से सब-कुछ लेती और देती रही है। इस दृष्टि से कमला अय्यर की सत्ता एकदम अलग भी है। वह गाना अच्छा जानती है, लेकिन जब गाती है तब भी निस्पृह बनी रहती है —'पानी बिचु मीन पियासी।'

···आंख बंद करते ही मुझे लगा, जैसे रात करवट लेने लगी है। हल्की-सी कुछ आवाज़ें हवा में तैर रही हैं। ये आवाज़ें बरतनों की हैं जो शायद होटलों में नये दिन की शुरुआत के लिये धोये-मांजे जा रहे हैं। उत्तर प्रदेश के 'भइये' सड़कों के किनारे ऐसे ही हलके होटल चलाते हैं और घर-घर जाकर दूध बेचते हैं। कुछ आवाज़ें शायद सरकारी 'मिल्क बूथ' की भी हो सकती हैं। जैसी भी हों, यह लगने लगा है कि सुबह का पहरुआ रात का गला घोट रहा है और अब उसे कोई नहीं

बचा सकता। ···प्रोफेसर आचार्य भी नहीं, जो यह कहता रहता है कि जितना वह जानता है, दूसरा नहीं जान सकता। छात्रों को पढ़ाते-पढ़ाते इन 'मास्टरों' का दिमाग भी उतना ही बचकाना हो जाता है। अधपके, अनजाने और अनुभव-हीन विद्यार्थियों के बीच खड़े होकर वे पूंछ हिलाती गिलहरियों से बेहतर नहीं लगते। उनकी तरह वृक्ष की चोटी तक पहुंचकर दुनिया नापने का भ्रम उन्हें होने लगता है, लेकिन उस ऊंचाई से घबराकर दूसरे ही क्षण वे उतने ही नीचे आ जाते हैं। कई अवसरों पर, कई तरह से मैंने प्रो० आचार्य को देखा है—वैसे आदमी वह बुरा नहीं है। गड़बड़ी यह है कि वह मिलकर भी मिल नहीं पाता और टूटकर भी दूर नहीं हो सकता।

प्रोफेसर आचार्य तब भी हम सबका एक अच्छा साथी है। हर आदमी में काम की कोई-न कोई चीज़ होती है और इस सहज सिद्धांत से प्रो० आचार्य अलग नहीं है। उसने मंजरी की कितनी मदद नहीं की···! वैसे भी शोभना और सत्या को मेरे साथ देखकर वह निर्विकार बना रहा है। वह अवसर कमला अय्यर से बातें करता है, क्योंकि उसकी बातें कमला के लिए 'ज्ञान-विज्ञान' से भरी होती हैं। दो व्यक्तियों के साथ की शर्त भी तो यही है—यदि दोनों मस्तिष्क एक-से हो जाएं तो वह दो सांड़ों की लड़ाई होगी और दोस्ती कभी लड़ाइयों के बीच नहीं पनपती। मुझे खुशी है, कमला को वह पसंद करता है, क्योंकि कमला मुझे भी पसन्द है। उसमें कुछ है, जो दूसरी लड़कियों में नहीं है। उसका मौन और चुप बहुत-कुछ कह जाता है।

मैं कई बार सोचता हूं, हम सब कितने सुखी हैं—मैं, गोरावाला, कमला, शोभना, मंजरी और आचार्य भी। हमारे बीच और कितनी धाराएं आ गई हैं. उनमें सत्या है, सुरेखा है, नीला, समिधा और रमा है। निरंजनसिंह जैसे लोग आते हैं और चले जाते हैं। और भी कितने हैं, जो ऐसे नहीं है। ···मैं सोचता हूं, हम सबकी ज़िन्दगी क्या एक बड़ी कल्पना नहीं हो सकती! एक दिन वह चलते-चलते ऐसे ही अनायास टूट जाएगी, क्या टूटने के पहले वह और ऐसी ज़िंदगियों को जोड़नेवाली कड़ी नहीं बन सकती ?

शायद···नहीं! ···हां···भी शायद! अब मंजरी पढ़ाने लगी है। वह नन्हें-नन्हें बच्चों की 'मिस' बन गई है। शायद वह उन्हें उन सारे गलत रास्तों

से निकाल सके, जिन पर उनके माता-पिता कहे जाने वाले लोग चलते रहे हैं···शायद !

···शायद ! हां, प्रोफेसर आचार्य भी तो 'मास्टर' ही है ! वह क्या करता है···क्या नहीं कर सकता, लेकिन करने और कह सकने के बीच क्षमता का प्रश्न आता है और उसका उत्तर ढूंढ़ना इतना आसान नहीं है।

२३

प्रो० आचार्य : कमज़ोरी का एहसास

रात ! पिघलती चांद-भरी रात ! सब सोए हैं। मैं जाग रहा हूं या मछुए जाग रहे हैं। समन्दर के किनारे खड़े वे अपने जाल को खींच रहे हैं, मीलों लम्बे जाल को ! समन्दर भयंकर रूप से गरज रहा है। वह जैसे अपने नीचे लेटी धरती को अपने भीतर भरने के लिए पछाड़ खा रहा है। मैं उसकी चीख सुन रहा हूं। वह चीख रहा है और मैं प्रसन्न हूं। वह कितना ही पछाड़ खाए, अब धरती उसकी पहुंच के बाहर है। धरती अब जाग गई है। वह दिन आज नहीं है जब धरती अचेत पड़ी थी और सागर की निर्ममता का अनजाने शिकार हो गई थी। मुझे लगा, जैसे इस नई धरती पर मंजरी खड़ी है। हंसती और खिलखिलाती मंजरी। वह सागर की मूर्खता पर शायद हंस रही है। उसके नये परिधान को मैं देखता रहता हूं। उसमें अब गति आ गई है। कौन कहेगा, वह कभी अपढ़ थी और ठेठ देहात से आई थी। अब वह सपाटे की अंग्रेज़ी बोलती है। सारा ऐटीकेट उसे आ गया है। कई आदमी उससे मिलने आते हैं। वह उनसे उतनी ही बातें करती है, जितनी ज़रूरी हैं। उसने अपने जीवन को नये सांचे में ढाल लिया है। वह पढ़ सकती और पढ़ा सकती है। वह नाच सकती है और दूसरों को नचा सकती है। वह सभ्य है, असभ्य भी बन सकती है।

व्यक्ति एक है, पर न जाने कितने व्यक्तित्व उसमें समाहित हैं। कल की मंजरी आज नहीं रही। और इसीलिए मैं सोचता हूं कि जिन्दगी यदि जीना है तो कडवे घूंट पीने से डरना नहीं चाहिए। सुख पाना है तो दुःख से दूर नहीं भागना चाहिए। रात की काली छाया अनन्त नहीं है। वह अपने साथ सुबह का संदेश लिए रहती है। मैं मंजरी को अब देखता हूं तो देखता ही रहता हूं। उसने अपने श्रम और अपनी साधना से इस भारी दुनिया को अपनी नन्हीं-सी मुट्ठी में भर लिया है।

मैं भी उसी 'बूची टैरेस' का निवासी हूं, जहां मंजरी रहती है। जहां शेखर,

मिस गोरावाला और मिस कमला अय्यर रहती हैं। उसी टैरेस में अब 'बाल-मंदिर' है। पूरे मुहल्ले के अच्छे-अच्छे लड़के-लड़कियां वहां पढ़ने आते हैं, किस्म-किस्म के फूल वहां खिलते हैं। खूब चहल-पहल रहती है। अब कोई इस टैरेस से नहीं चिढ़ता। कोई यह नहीं कहता—"यहां रोज़ एक नई 'बूची' आती है।" बच्चों की चहल-पहल में सब-कुछ खो गया है। मंजरी उन ढेर-से बच्चों की मां है, लेकिन अब कोई उससे चिढ़ता नहीं। सब उसे श्रद्धा से देखते हैं और उसे आदर देते हैं।

मैं इस टैरेस का निवासी हूं, इसलिए गर्व का अनुभव करता हूं। पहले इनसे कतराता था। मैं कालेज का प्रोफेसर जो ठहरा, इस सभ्य समाज का एक ठेकेदार! यदि लोग जान लें कि ये सब मेरे मित्र हैं तो···? यह प्रश्नचिह्न सदा ही मेरी आंखों के सामने नाचता रहा है। इसलिए इनके बीच रहकर भी मैं कटा रहा हूं। मैं शेखर की प्रशंसा करता हूं। उसने मेरी तरह अपने को बांधकर नहीं रखा। उसे किसी का भय नहीं है। मेरा मन, अब इन सफेद कपड़ों को उतार देने का होता है। जब हम एकान्त में होते हैं, या भयंकर स्थितियों में डूबे रहते हैं, तभी हमारा वास्तविक रूप सामने आता है; वरना हमारा शरीर सदा एक बनावटी ढांचे से ढका रहता है। हम समाज के सामने इसी ढांचे के बल पर प्रतिष्ठा पाते हैं। अब इस झूठी प्रतिष्ठा से मेरा मन विद्रोह करने लगा है। मैं इन सब लोगों के जीवन का कोई अंग बनकर कभी नहीं रहा। मंजरी मेरे कारण ही यहां आई। निरंजन का मैं मित्र न होता तो वह उसे यहां क्यों लाता? फिर भी मैं मात्र दर्शक बना रहा। मंजरी को मैं मित्र न बना सका। बनाने का मैंने कभी यत्न भी नहीं किया। शेखर से कभी खुलकर बातें नहीं हुईं। कमला अय्यर से तो हमेशा कतराया हूं। शोभना मुझे अच्छी नहीं लगी। मिस गोरा-वाला इस टैरेस की मालिक है, इसलिए उससे बोलना जरूरी है। तब भी मैंने बेमतलब बोलने का कोई प्रयत्न नहीं किया। आज सोचता हूं, कितनी बड़ी गलती की है मैंने। कीचड़ में रहकर ही तो कमल फूलता है। सोने के तालाब में वह नहीं फूल सकता। इस टैरेस में ये सब खिले हुए कमल हैं।

मैं देखता हूं, हमारे समाज का ढांचा टूटता जा रहा है। हम अधिक व्यक्ति-वादी बनते जा रहे हैं। हमारे मित्र हमसे दूर हैं और रिश्तेदार छूटते जा रहे हैं। इनके ही गठन से तो समाज बनता है। समाज के टूटने की यह शृंखला बराबर

जारी है। तब आगे क्या होगा? मैं आज जैसे दार्शनिक बन गया हूं। मैं अपने इन साथियों के जीवन में गहरे तैर जाना चाहता हूं।

शेखर कहता है—"इस समाज को टूटना ही चाहिए। जुड़ने की सामर्थ्य उसमें अब नहीं है।"

वह कहता है—"जो भावी समाज बनेगा, उसकी कड़ियां इतनी मज़बूत होंगी कि कभी नहीं टूट पाएंगी।" शेखर विद्वान है। अनुभव की उसमें कमी नहीं है, फिर वह क्यों गलत कहेगा? मंजरी मेरे सामने है। मैं उसकी कहानी जानता हूं।

वह गांव में रहनेवाली एक अपढ़ गरीब लड़की, जिस खम्भे से उसे बांध दो, वह बंध जाए। पर उसे ऐसा खम्भा भी नहीं मिला। उसकी बहनों को समाज और जाति से मुंह मोड़ना पड़ा। वह स्वयं एक बूढ़े की लाठी बनी। सोने की छड़ी जैसे पहाड़ पर डगमगाते हुए पत्थर से टिका दी गई। मंजरी ने यहां भी साहस दिखाया, पर कोई उसकी रक्षा न कर सका और वह लूट ली गई। गुण्डों ने उसे कैद किया। कैद होकर भी उसने प्रतिवाद नहीं किया। शायद इसीलिए उसकी यंत्रणाओं का अंत हुआ। उसने परम्परा से सब-कुछ सहना ही तो सीखा था। परम्परा कभी बिजली का फूल खिलाने का सामर्थ्य नहीं जुटा पाई। मंजरी ने उसे तोड़ा और आगे बढ़ी।

मंजरी जानती है कि समाज कुछ गिरे हुए और झूठे तथा दम्भी लोगों की अमानत है। जो समाज की दिशा का संचालन करते हैं, वे पुरातनपंथी हैं। वे पुरोगामी नहीं हैं। वे ऐसे नहीं हैं जो समय के साथ चलें, जो अपनी शृंखलाओं को जोड़ें और अपनी शक्ति को संजो सकें। यदि राम और लक्ष्मण को ही लें तो वे भी तो सीता की रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सके थे।

एक सीधी लड़की वेश्या बन गई। वेश्या उसी समाज का खून चूसती है, जहां से वह भगाई जाती है और तब उससे जुड़े लोग ही चोरी-छिपे उसी के चरण चूमते हैं। मंजरी चाहती तो जोंक की तरह सबको चूस सकती थी, पर उसने यह नहीं किया। वह अंधेरे से उजाले में आना चाहती थी। किसी तरह वह आ गई। आज वह एक नई देहरी पर खड़ी है। उसका मस्तक उन्नत है। वह गर्व से सबको देख सकती है। उसे दुतकारने वाले समाज के कर्णधारों के अंकुरों को पालने का दुरूह कार्य उसने स्वीकार किया है। पर सबने उसे

तिरस्कृत ही किया और उसे पीसकर धूल में मिला देना चाहा। इस तरह की जाने कितनी मंजरी उसका शिकार भी हो चुकी हैं, रोज़ होती जा रही हैं। इतना साहस सबमें कहां है ? मंजरी पर किसी का एहसान नहीं है। मैं कहता हूं, न निरंजन का, और न शेखर का न मेरा। पैरों पर खड़े होने के लिए आत्मबल चाहिए। बैसाखी के सहारे कहां तक कौन चल सकता है ? हम चाहते रहे हैं कि नारी सदा किसी-न किसी बैसाखी से टिकी रहे—वह चाहे पुत्र हो या पति। हमारी यह चाहत कितनी घातक है !

आज मेरा मन मुझे ही काट रहा है। मैंने कभी मंजरी से हार्दिक सहानुभूति नहीं दिखाई। न जाने कौन से संस्कार थे मेरे भीतर जो मुझे उससे दूर खींचते रहे। मेरी आंखों में वह एक भ्रष्ट और पतित लड़की बनी रही। मैंने कभी उसका सही पक्ष नहीं देखा। उसे हमेशा अपनी गलत नजरों से देखता रहा। शेखर ने किसी की चिंता नहीं की, इसलिए अब मंजरी मुझसे अधिक शेखर के पास है। भीतर ही भीतर मैं इन सबका विरोध करता रहा…। कितना बेमानी था वह !

कुछ दिनों में सभी मंजरी के पास दौड़ेंगे और वे उससे संरक्षण चाहेंगे। उसकी कृपा के आकांक्षी रहेंगे। वे यह भूल जाएंगे कि उन्हींकी कृपा से उसको जीवन में इतने कठोर संघर्ष करने पड़े हैं।

शेखर के धीरज का मैं कायल हूं। एक दिन स्वयं मंजरी कहती थी—"वह सफेद कपड़ों पर 'चीते की बंडी' क्यों पहनता है ?" कई लोगों ने उसके इस मर्म को अपने ढंग से आंका है। मैंने भी बहुत-कुछ सोचा था। आज उसके सामने मेरा मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है। मैं उसे बहुत बड़ा आदमी मानता हूं। उसने चीते की बंडी कपड़ों के ऊपर पहनी है, और कोई होता तो वह सफेद कपड़ों के नीचे पहनता। शेखर किसी को झुठलाना नहीं चाहता। किसी को अंधेरे में वह नहीं रखता। वह साफ कहता है—"हमारे मन की प्रवृत्तियां चीते से किसी तरह कम नहीं हैं।" वह इन प्रवृत्तियों पर संयम तो चाहता है, पर नाश नहीं। प्रवृत्ति का नाश जीवन का नाश है। वह कहता है—"इस दुर्लभ जीवन का नाश पागल ही कर सकता है।"

शेखर के पास बहुत-सी लड़कियां आती हैं। कुमारी भी और विवाहित भी। समाज के सामने यह सब अनैतिक है, इसलिए भी त्याज्य है। मैं आज

सोचता हूं, हमारे पास मस्तिष्क है तो क्या हुआ, वह रहते हुए भी मैं दिवालिया हो गया हूं। क्या किसी ने कभी सत्या की इच्छाओं को देखा है, उसे पहचाना है ? विवाहित होकर भी वह क्यों यहां आती है ? शोभना के दर्द के प्रति शायद ही किसी की सहानुभूति हो। फिर सुरेखा है। ईसाई लड़की हेलेन भी है, जो लड़कों से खुलकर मिलती है और सिगरेट पीती है...। इनके मन को आज तक किसी ने नहीं देखा ! इनकी इच्छाओं को किसी ने नहीं पहचाना...! सबने इनका तिरस्कार किया है, लेकिन यही हैं जो एक नये वर्ग को जन्म दे रहे हैं। यह वर्ग एक नया समाज बनाएगा। मेरा मन आज ज़ोर से कह रहा है कि इस नये वर्ग के हाथ ज़्यादा मज़बूत हैं, इसलिए इनसे जो समाज बनेगा, वह पुराने समाज को खा जाएगा; रानी-मक्खी जैसे गर्भ धारण करते ही स्वयं अपने राजा को तुरन्त खा जाती है। यह एक ऐसा सत्य है, जिसे आज भले कोई न स्वीकारे पर आनेवाला कल उसे टाल नहीं सकता।

मिस गोरावाला कुमारी है, फिर भी मातृत्व का पूरा आनन्द उसे मिला है। मैं पूछता हूं, इसमें बुरा क्या है ? अच्छा शायद यह होता कि वह पहली बार मां बनने के पूर्व ही समन्दर में डूब मरती...! लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। वह चुपचाप किसी नर्सिंग होम में जाकर भी तो फिर खाली हो सकती थी। उसने यह भी नहीं किया और गर्व से सबका सामना करती रही। एक दिन मैंने देखा था एक कुत्ता बाहर मर रहा था। शायद कई दिनों का भूखा होगा। उसके शरीर में सूखा जैसा हो गया था। मिस गोरावाला उसे उठा लाई थी। मैंने कहा था—"मिस गोरावाला, कितना गंदा है यह ! इसमें ढेर-से कीड़े होंगे। क्यों छूती हो इसे ?"

उसने उत्तर दिया था—"क्या तुम साफ हो ? तुम्हारे भीतर क्या कीड़े नहीं हैं ?"

उसका यह उत्तर मुझे कितना खराब लगा था ! एक सप्ताह मैं उससे बोला भी नहीं, पर एक महीने में ही उस कुत्ते ने नई ज़िन्दगी पा ली। आज वह ब्लैकी है और बूची टैरेस का स्वामी। सारा मुहल्ला उससे डरता है। सारे कुत्ते उससे कांपते हैं। अब मैं सोचता हूं, मिस गोरावाला के हाथ कितने बलिष्ठ हैं ! वे एक मरने वाले कुत्ते को इतनी शक्ति दे सकते हैं ! मैंने उसे गरीबों को कपड़े बांटते देखा है। कई लोगों की उसने नौकरी लगाई है। अनाथों के प्रति उसमें गहरा

हमदर्दी है। दूसरी ओर जो सम्पन्न हैं और 'चीते की बंडी' छिपाकर रखते हैं, उन्हें वह चूसती है। उसकी लड़कियां जोंक की तरह क्या यही काम नहीं कर रहीं ?

मैं दुःखी हूं, क्योंकि इन सबसे दूर हूं। अपने को नितान्त एकाकी पाता हूं। हम सब परिवार चाहते हैं, एक अच्छा और भरा-पूरा परिवार। परिवार के लिए पत्नी आवश्यक है। बिना पत्नी के परिवार हो सकता है, इसकी कल्पना कोई नहीं कर सकता। लेकिन पति-पत्नी के इस बंधन में कितने परिवार दिन-रात जल रहे हैं।

मैं जब वूची टैरेस को देखता हूं तो मेरी सारी आस्थाएं हिल जाती हैं। ये सब अलग हैं, फिर भी एक हैं। परिवार जैसी सुख-सुविधा इन सबको उपलब्ध है। फिर भी परिवार जैसा वैषम्य और ईर्ष्या-द्वेष उनमें नहीं है। सब एक-दूसरे के हैं। सब निर्बन्ध होकर भी बंधे हैं। मैं सोच रहा हूं, क्या परिवार इससे भिन्न होता है ? मैं यह भी सोचता हूं कि वूची टैरेस में ये सब क्यों मिलते हैं ? शोभना को पैसा नहीं चाहिए। सत्या शेखर को वैसे ही पैसा दे जाया करती है। सुरेखा की बड़ी से बड़ी प्यास नई साड़ियों तक सीमित है। ईसाई लड़की हेलेन नाच-गाकर जैसे सब पा लेती है। इसके आगे वह सिनेमा देखना चाहती है, बस···। तब ? ऐसी क्या बात है, जो उन्हें बांधे हैं ?

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा था—"नारी के प्रेम का स्पर्श ही पुरुष के अन्तःकरण पर पड़े कुहासे के आवरण को मुक्त करता है। अपने जीवन में सफलता पाने के लिए पुरुष को नारी का प्रेम प्राप्त करना आवश्यक है। रचनात्मक प्रतिभा वाले पुरुष के लिए तो यह आवश्यकता और भी अधिक है। वह अभागा होता है, जो नारी का प्रेम प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो पाता। पुरुष के व्यक्तित्व की अन्तरतम गहराइयों का पोषण नारी ही कर सकती है।"

नारी का प्रेम कैसे मिल सकता है ? क्या इसका माध्यम केवल विवाह है ? मैं मानने लगा हूं कि विवाह में प्रेम नहीं होता। उसमें केवल घुटन और दर्द है। कर्तव्य के नाम पर वह एक धोखा है। तब नारी का सच्चा प्रेम कहां है ?—वह विवाह से दूर रहकर ही मिल सकता है। लेकिन दूर रहने का अर्थ काम में वर्जना नहीं है। काम ही प्रेम है। पुरुष का स्पर्श नारी की अन्तरात्मा में मीठे फूलों की सुगन्ध छोड़ जाता है। उसके मन में ऐसे सपने जगाता है कि केवल उसके

सहारे ही वह अपना समग्र जीवन हंसते हुए बिता सकती है। उसकी पंखुरियां न कभी मुरझाती हैं और न कभी उसकी सुगंध तिरोहित होती है। यही बात दूसरी तरह से देखी जाए तो नारी ही पुरुष को समग्रता प्रदान करती है और भटकाव से रोकती है। ये कुछ ऐसे उपादान हैं, जिनका मूल्य आर्थिक युग में भी अर्थ से नहीं आंका जा सकता।

कल मुझे अपने कालेज के एक प्रोफेसर मित्र मिले थे। वे सोशियोलॉजी के प्रोफेसर हैं। यह कोई नहीं जानता कि मैं जहां रहता हूं, वहां ये सब लोग रहते हैं। उन्हें कहीं से पता लग गया तो वे बोले—"भाई, एक सलाह दूं ?"

मैंने कहा—"वह तो तुम्हारा अधिकार है।"

उन्होंने कहा—"लेकिन मानोगे ?"

मैंने कहा—"मानने योग्य हुई तो न मानने का कोई कारण नहीं हो सकता।"

मेरे अधिक नज़दीक आकर उन्होंने कहा था—"तुम जहां रहते हो, वहां सब गंदे लोग रहते हैं। सब चरित्र-भ्रष्ट हैं। सब अनैतिक हैं। कहीं और जगह ले लो और उसे तुरन्त छोड़ दो।"

उनकी बात तब मुझे अच्छी लगी थी। मैंने तब सोचा था कि वे ठीक कह रहे हैं। मैंने कहा था—"आज से ही जगह खोजूंगा।" पर अब जगह खोजने की कल्पना मेरे मन में नहीं है। इससे अच्छा स्थान और कहां मिलेगा ? मैं अब उन सबमें डूब जाना चाहूंगा।

आत्मा का यह बल कितना सबल है ! आज मैं प्रोफेसर की बात सोच रहा हूं। क्या सचमुच चरित्र नाम की कोई वस्तु है ? क्या वह एक ऐसी चादर है, जिसे कभी भी बदला जा सकता है ? क्या चरित्र भी कभी नैतिक और अनैतिक होता है ? और नैतिकता क्या है, उसके मानदण्ड किसने निर्धारित किए हैं ? क्या वे सब सुविधा पर नहीं टिके ?

शोभना से एक बार मेरी बात हुई थी। वह अचानक 'सन-एन-सैंड' के पास मिल गई थी। शायद हम दोनों को फुरसत थी, इसलिए हम वहीं बाहर लॉन में बैठकर चाय पीने लगे थे। बहुत देर बातें भटकती रहीं और फिर मैंने उनका सूत्र पकड़ा। तब तो मेरी सारी धारणाएं अलग थीं।

मैंने पूछा था—"तुम्हारे घर के लोग इतनी आजादी दे देते हैं ?"

उसने पहले चौंकते हुए उत्तर दिया था—"इससे तुम्हें क्या मतलब? मेरी आजादी का सवाल तुम्हारे लिए क्यों महत्त्वपूर्ण है?" मैं समझ गया था कि इस तरह सीधी बातों से कुछ बनेगा नहीं। तब मैंने एक दूसरा चेहरा लगाया था और बहाना बनाया था कि मैं रिसर्च कर रहा हूं। इसी सिलसिले में जानना चाहता हूं, अन्यथा वास्तव में मेरा उसके घर की आजादी से कोई मतलब नहीं है। उसने तब कहा था—"अच्छा, जितने प्रश्न पूछना हो सीधे-सीधे पूछ लो।"

—"तुम घर लौटकर शाम को कब जाती हो?"

—"कोई समय तय नहीं है।"

—"कुछ तो होगा, मसलन ८ बजे से १० बजे रात तक या···।"

—"नहीं, मैं बारह बजे रात को भी गई हूं और कभी ऐसा भी हुआ है, जब मैं घर ही नहीं जा सकी।"

—"तब तुम्हारे मां-बाप ने तुम्हारी खोज नहीं की?"

—"मैंने वह नौबत नहीं आने दी। मैं फोन कर देती थी।"

—"क्या कहती थीं उनसे?"

—"कुछ भी, जो मन में आता था। जो बहाना उस समय ठीक लगे, यानी अपनी सहेली के घर रह रही हूं। उसके साथ पिकनिक जा रही हूं। और··· छोड़िए भी इसे। बहाने आखिर बहाने हैं। उनके बारे में सोचना नहीं पड़ता।"

—"इसका अर्थ यह हुआ कि आप अपने घर से भय खाती हैं?"

"हां!"—उसने दोनों हाथों को झटका दिया था—"क्योंकि अभी हमारे घरों में आपकी तरह के लोग बैठे हैं, शेखर की तरह के नहीं।"

—"यदि कभी घर के लोगों को यह सब पता लग जाए तो?"

—"उन्हें कई बातों का अब पता लग चुका है। जब मैं अपना 'एबार्शन' कराने गई थी, तब घर में कह गई थी कि सहेलियों के साथ खंडाला जा रही हूं, परन्तु मेरा भाई डाक्टर है। लौटकर जब मैं आई तो मेरी देह को देखकर ही उसे कुछ संदेह हुआ। उसने कई क्रॉस प्रश्न किए। मैंने सबका उत्तर दिया, परन्तु उसे संतोष नहीं हुआ।···तब मैंने अपना रुख बदला और उससे पूछा—'तुम क्या कहना चाहते हो?' वह बहुत देर बातें घुमाता रहा, फिर बोला—'देख शोभा, तुझे मैं पहले से देख रहा था और आज भी देख रहा हूं।

यह सब अच्छा नहीं है।' मैंने जवाब दिया था—'वह मैं जानती हूं।···परन्तु यदि कोई गलती हो जाए तो···?"

मैंने शोभना को यहीं रोककर पूछा था—"हां, बताइए···तो ?"

"तो उसके लिए पछताना नहीं चाहिए"—उसने कहा था—"और आगे के लिए सभल जाना चाहिए। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि अपनी दैहिक आवश्यकताओं को रोककर अपने को नष्ट किया जाए। असल में ज़रूरत किसी का प्रेम पाने की है, वह जिस तरह मिले उसकी तलाश करनी चाहिए। प्रेम के बिना नारी अधूरी है। इसी तरह पुरुष भी एक सूखा हुआ ठूंठ है। मैं शेखर की बात से सहमत हूं कि विवाह में प्रेम नहीं होता। वह धोखा है। विवाह के पहले उसके बिना एक जलन है, यदि उसके बाद भी वही स्थिति है तो आप ही बताइए कौन-सी स्थिति सही है ?"

मैं हतप्रभ शोभना को देखता रह गया था। मेरे पास इसका उत्तर नहीं था। यहां-वहां व्यर्थ भटका जाए या विवाद के नाम पर विवाद किया जाए तो और बात है। मैंने उससे अंतिम प्रश्न पूछा था—"लेकिन इस तरह भागने से तो सृष्टि का अन्त हो जाएगा।"

"भागने की बात कौन कर रहा है, आचार्य साहब !"—उसने गम्भीर होते हुए कहा था—"हम तो और भी डूबने और भोगने की बात करते हैं। असल में इसे तब तक नहीं समझा जा सकता, जब तक यह ढांचा खड़ा है। पुरानी नींव पर जो दीवार खड़ी की जाएगी, जल्दी गिरेगी। मज़बूत दीवार के लिए नयी नींव चाहिए। नयी परम्पराएं जब तक नहीं बनतीं, यह प्रश्न भटकता रहेगा। वास्तव में हम सब एक नये समाज की प्रतीक्षा में हैं। वह दूर नहीं है, क्योंकि मूल्यों में परिवर्तन हो रहे हैं। आप ही देखिए, आप अपने को अब गलत मानने लगे हैं। आगे चलकर आपमें और भी परिवर्तन होंगे। और एक व्यक्ति के परिवर्तन का ही तो महत्व है, क्योंकि व्यक्तियों का समूह ही एक समाज है। मैं शेखर की इस बात को पूरी मजबूती से मानती हूं कि एक व्यक्ति का हम सम्मान करना सीखें तो वह पूरी मानवता का सम्मान होगा। आप देखिए न, सारे आविष्कार, सारे परिवर्तन और सारी क्रांतियां किसी एक व्यक्ति की देन हैं। व्यक्तियों का समूह भेड़ों से कम नहीं होता, और आचार्य साहब, भेड़ें तो हर जगह

होती हैं, एक अच्छा चरवाहा कहां मिलता है !"

इसके बाद शोभना ने आगे बात नहीं करना चाहा था और हम अलग हो गए थे।

शोभना ने जो कुछ कहा था, सब शेखर से सीखा है। शेखर से सीधे बातें करने का मुझे कभी मौका नहीं मिला। कभी-कभी बात हुई है, परन्तु बस यूं ही। मैंने ही कभी उससे मिलने की सही ढंग से कोशिश नहीं की। उसने तो कभी किसीकी फिकर नहीं की। सत्या के साथ सड़क पर खड़े होकर उसने 'किस' एक्सचेंज किए हैं। लेकिन यह भी सत्य है कि उसने कभी किसीका पीछा नहीं किया। उसके यहां जो भी आए हैं, अपनी मरज़ी से आए हैं। विना इच्छा के उसने किसी से जबरन दोस्ती नहीं की और जिससे दोस्ती की है, निवाही है।

मैं इसे महत्त्वपूर्ण मानता हूं कि मंजरी जैसी लड़की को शेखर ने इतना बदल दिया।···अन्यथा वह पुरुष-भोगी नारी के रूप में ही तो छोड़ दी गई थी। उसके मां-बाप भी उससे दूर भाग गए थे। शेखर से क्या सम्बन्ध था उसका···! अब यदि कोई सम्बन्ध हो जाए तो इसमें बुराई क्या है···!

सम्बन्ध सुविधा के लिए है। शब्दों का कोई अर्थ नहीं होता···उनका अर्थ बना लिया गया है। और इसलिए किसी शब्द विशेष से हम उसके बने-बनाए अर्थ को समझ लेते हैं; सम्बन्ध भी शब्द की तरह अर्थहीन हैं और बनाए हुए प्रतीक हैं। सम्बन्धों के बीच भेदभाव भी इसी तरह की परम्परा से चली आ रही मान्यता का परिणाम है। मुझे खुशी है, मंजरी का हाथ शेखर ने पकड़ लिया है। एक लम्बे अंतराल के बाद उसे नया रास्ता मिला है। उन रास्तों के अर्थ खोजना दूसरों का काम है। यह काम उन शोध करनेवालों का है जो मौलिकता की नींव पर ही आगे बढ़ पाते हैं।

शाम उतर रही है, दिन के प्रकाश को जैसे कोई स्याहीसोख पीता जा रहा है। दौड़ता और भागता हुआ एक दिन थम जाएगा, ऐसे ही किसी दिन यह चलती हुई ज़िंदगी भी रुक जाएगी। तब वे सारे प्रश्न शून्य में चक्कर काटते हुए आत्माओं की तरह किसी शांति की खोज में भटकते रहेंगे।

आज समूचा 'बूची टैरेस' खाली है। यह गहरा एकांत काटे जा रहा है। शेखर, मंजरी के साथ खंडाला चला गया है। शोभना नर्सिंग होम में है। कहती थी कि इस बार अपने नारीत्व को रूप दिए बगैर नहीं रहेगी। मिस गोरावाला

अपनी तीसरी लड़की के यहां है। उसके साथ वह अमेरिका जाएगी। कमला अय्यर कल अपने बॉस के साथ कन्याकुमारी चली गई है। यह पूरा 'महल' एकदम खाली है। सत्या के भी आने की कोई सम्भावना नहीं है।

खिड़की के बाहर शाम का धुआं गहरा होता जा रहा है। दूर से समन्दर के पछाड़ खाने की आवाज़ें आ रही हैं। मछुए शायद अपना जाल समेट रहे हैं। उसमें फंसी हुई मछलियों को तड़पता हुआ देखकर उनकी खुशी का अन्त नहीं है। उनके बोल मेरे पास तक आकर बिखर रहे हैं :

छियो राम छियो !
छियो राम छियो !!

मैं खिड़की बंद कर लेता हूं और शेखर के वापस लौटने तक उसे न खोलने की कसम खाता हूं। मुझे पहली बार अपनी कमज़ोरी का एहसास हुआ है।

मुद्रक : भारत मुद्रणालय, शाहदरा, दिल्ली में मुद्रित
1193